SAMKALEEN HINDI KAVITA MEIN ITIHAS-BODH AUR PRATIRODHI-CHETNA

A Thesis submitted during 2013 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi, School of Humanities.

By

PREM SHANKER PANDEY
08HHPH03

2013

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
Central University P.O.
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad – 500 046
Andhra Pradesh
INDIA

DECLARATION

I, **PREM SHANKER PANDEY**, hereby declare that this thesis entitled "**SAMKALEEN HINDI KAVITA MEIN ITIHAS-BODH AUR PRATIRODHI-CHETNA"** (समकालीन हिन्दी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना) submitted by me under the guidance and supervision of **Dr. M. Shyam Rao** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Name : **PREM SHANKER PANDEY**

(Signature of the Student)
Regd. No. 08HHPH03

Date :

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled " **SAMKALEEN HINDI KAVITA MEIN ITIHAS-BODH AUR PRATIRODHI-CHETNA"** (समकालीन हिन्दी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना) submitted by **Prem Shanker Pandey** bearing Reg. No. 08HHPH03 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

As far as I know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department   Dean of the School

अनुक्रमणिका
समकालीन हिंदी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना

प्रस्तावना **I -**

प्रथम अध्याय **1-26**

समकालीनता : अवधारणा, परिदृश्य और हिंदी कविता

I. समकालीनता : अवधारणा
II. समकालीन सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य
III. समकालीन हिंदी कविता

द्वितीय **अध्याय** **27- 44**

इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना का अवधारणात्मक स्वरूप

I. इतिहास-बोध
II. प्रतिरोधी-चेतना

तृतीय अध्याय **45-85**

इतिहास-बोध और प्रतिरोधी- चेतना की पृष्ठभूमि (समकालीन हिंदी कविता से पूर्व की हिंदी कविता का संदर्भ)

I. आदिकाल
II. भक्तिकाल
III. रीतिकाल
IV. आधुनिक काल

चतुर्थ अध्याय **86-172**

समकालीन हिंदी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना के विविध आयाम

I. भूमंडलीकरण
II. किसान
III. स्त्री
IV. दलित
V. आदिवासी
VI. साम्प्रदायिकता
VII. संरचनागत (भाषा व शिल्प)

उपसंहार	**173-195**
संदर्भ-ग्रंथ सूची	**196-208**

प्रस्तावना

रघुवीर सहाय की एक कविता 'इतिहास' की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं - "इतिहास का हम करते क्या हैं / जब कुछ करते हैं तभी / इतिहास बनता है नहीं तो हम उच्छिष्ट होकर / रहने को बाध्य हैं।" तो अगर उच्छिष्ट होकर नहीं रहना है तो कुछ करना होगा। मानव सभ्यता का इतिहास इस बात की गवाही देता है कि मनुष्य ने जब-जब उच्छिष्ट बनने से इंकार किया है इतिहास में निर्णायक मोड़ उपस्थित हुए हैं। यह इंकार मनुष्य होने की शर्त है और उसके अस्तित्व का मूल है। अपनी इस विडम्बना के बावजूद कि मानव-समाज का बड़ा भाग यथास्थितिवाद और जड़ता का पोषक होता है, मानव-सभ्यता अनेक अवरोधों और परिवर्तनों से गुजरती हुयी आज चरम विकास को अर्जित कर सकी है। लेकिन यह 'कुछ करना' हमेशा ही सही दिशा में और सकारात्मक फल देने वाला हो यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए व्यक्तिगत स्तर से लेकर सामूहिक स्तर पर, मानव चिंतन की प्रक्रिया को इतिहास-बोध से गुजरना पड़ता है। ताकि यथासम्भव परिवर्तन सही दिशा में, मनुष्य सापेक्ष और सकारात्मक परिणाम वाले हों।

यद्‌यपि इतिहास के किसी भी कालखंड में मनुष्य के लिए उसका समय और परिवेश पूर्णतः निरापद और सुगम नहीं रहा है, समकालीन समय उसके लिए इतिहास और सभ्यता के किसी भी समय से कहीं अधिक गम्भीर संकटों वाला है। अगर भारतीय संदर्भ में इसे देखना चाहें तो आम भारतीय व्यक्ति और उसका समाज घोर संक्रमणकारी दौर से गुजर रहा है। क्योंकि अभी भी पारम्परिक जीवन और चिंतन की पध्दतियों का उस पर दबाव बरकरार है और वहीं दूसरी ओर नवीन आधुनिक जीवन और चिंतन शैली को पूरी तरह आत्मसात नहीं कर सका है। परिणाम स्वरुप समय के प्रवाह में वह आधारहीन एवं विकल्पहीन अवस्था में खड़ा है। उसकी चेतना और विवेक से उसका अलगाव निरंतर बढ़ता जा रहा है। ऐसा विशेषकर सन 1990 के

बाद से, यानि भूमंडलीकरण के भारतीय समाज में निर्णायक और वर्तमान स्वरुप में प्रवेश के बाद से, प्रभावशाली तौर पर देखा जा सकता है। अर्थ की चरम केंद्रीयता ने भारतीय मनुष्य के मूल स्वभाव में क्रांतिकारी बदलाव किए हैं। उसका व्यक्तित्व खंडित नजर आता है।

एक ओर तो समकालीन भारतीय समाज ने परम्परागत रुप से अनेक समस्याओं को हस्तगत किया है और दूसरी ओर उसमें अनेक अभूतपूर्व, अशोचनीय संकट जुड़ते गये हैं। क्या ऐसा कभी भी सोचा गया था कि किसी भी समाज की जीवनरेखा किसान-वर्ग, जिसका भारतीय सामाजिक संदर्भ में किसी भी समाज से अधिक महत्व है, लाखों की तादात में आत्महत्या के लिए मजबूर होंगे। आज भी जातिगत, प्रजातिगत, लिंगगत, सम्प्रदायगत जैसे अनेक पारम्परिक समस्याओं से जकड़े भारतीय समाज के लिए यह नासूर है।

समकालीन समय, उसके बीच भारतीय समाज, एक आम मनुष्य और उसका जीवन,सभी मिलकर एक अत्यधिक जटिल संरचना को निर्मित कर रहे हैं। इसे समझने की प्रकिया में समकालीन हिंदी कविता अत्यंत सहायक है क्योंकि उसने एकांगी चिंतन का चुनाव नहीं कर के, निरंतर गतिशील इतिहास-बोध से संदर्भित कर उसे देखने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि अपने समय और समाज की एक व्यापक पड़ताल समकालीन हिन्दी कविता करती नजर आती है। आगे बढ़कर वह प्रतिरोध की युक्तियों की खोज में समकालीन भारतीय मनुष्य की सहचर बनने की ऐतिहासिक भूमिका भी निभाती है। समकालीन हिन्दी कविता के इसी चरित्र ने मुझे अत्यंत आकर्षित किया और मैं 'समकालीन हिन्दी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी चेतना' विषय पर शोध के लिए प्रेरित हुआ।

मेरा यह शोध-प्रबन्ध चार अध्याय में विभक्त है। प्रथम अध्याय में समकालीनता की अवधारणा, उसके परिदृश्य और हिन्दी कविता को समझने का प्रयत्न किया गया है जो इस शोध विषय के सैद्धांतिक पक्ष के एक आधार को निर्मित करता है। दूसरे अध्याय में सैद्धांतिक पक्ष के दूसरे भाग इतिहास-बोध और प्रतिरोधी चेतना को विश्लेषित किया गया है ताकि उन

प्रमुख बिंदुओं की पहचान संभव हो सके जिनसे समकालीन हिन्दी कविता के संदर्भ में उसकी खोज की जा सके।

तृतीय अध्याय, चतुर्थ अध्याय की पृष्ठभूमि के रूप में है, जिसके अंतर्गत समकालीन हिन्दी से पूर्व की हिन्दी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी चेतना के उन संदर्भों को जानने का प्रयत्न है जो अपने विकसित रूप में समकालीन कविता में देखे जा सकते हैं। यह वस्तुत: हिन्दी कविता के संदर्भ में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी चेतना की परम्परा को जानने और उसके सातत्य की खोज का प्रयास है।

अंतिम अध्याय में समकालीन हिन्दी कविता के अंतर्गत उन विविध आयामों का विश्लेषण-विवेचन है, जिसका संबंध इतिहास-बोध और प्रतिरोधी चेतना से है। यानि कि जिन विषयों, समस्याओं के प्रति समकालीन हिन्दी कविता का इतिहास-बोध और प्रतिरोधी चेतना अपने प्रखरतम रूप में है। ये बिन्दु ही मुख्यत: समकालीन हिन्दी कविता की चिन्ता के अभिकेन्द्र हैं। इसी अध्याय के अंतिम उपभाग में भाषा एवं शिल्पगत संदर्भ को भी शोध विषय के संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया गया है। इसके बाद यथास्थान उपसंहार एवं संदर्भ-ग्रंथ सूची दी गई है।

इस शोध कार्य को उसकी परिणति तक लाने के लिए मैं हमेशा की तरह ही सर्वप्रथम हैदराबाद विश्वविद्यालय के प्राकृतिक परिवेश को, जिसने अपनी जीवटता और पर्यावरणीय संकट के वर्तमान दौर में टिके रहने की प्रेरणा का संचार कहीं-न-कहीं मेरे भीतर किया है, का मैं आभार प्रकट करता हूँ। शोध कार्य के लिए आवश्यक मानसिक दृढ़ता की प्राप्ति में इसका अमूल्य योगदान है। विभाग के समस्त अध्यापकों का भी जिन्होंने प्रत्येक संकट और जरूरत की स्थिति में संवाद के लिए आमंत्रित किया और वैचारिक रूप से कभी भी असहाय महसूस नहीं करने दिया।

साहित्य के श्रेष्ठ संस्कार कैसे जीवन के संस्कार बन जाते हैं इसके उदाहरण मेरे शोध-निर्देशक डॉ. एम. श्याम राव ने मुझमें जो विश्वास व्यक्त किया है, उसकी भी बड़ी भूमिका रही है। उनका मैं विशेष आभारी हूँ। साथ ही, अध्यापक से अधिक अग्रज के रूप में मार्गदर्शन करने के लिए मैं डॉ. भीम सिंह का अत्यंत आभारी हूँ। मित्र प्रणव के लिए इतना ही कहूँगा की यदि वह नहीं होता यह शोध कार्य अभी तो समाप्त नहीं ही होता। प्रणव की इस कार्यवाही में अंतिमा के हाथ बटाने के लिए धन्यवाद। साथ ही, सभी मित्रों का भी आभार जिन्होंने चर्चाओं को जीवित रखकर शोध का वातावरण निरंतर बनाये रखा।

टंकण जैसे कठिन और निरस कार्य को भी जिस धैर्य और उत्साह से राजेश कुमार वर्मा ने किया, वह उदाहरणीय है।

और अंततः माता-पिता और परिवारजनों का आभार जिनके आशीष, विश्वास, धैर्य और प्रेरणा की मैं निर्मित हूँ और जिनके बिना केवल यह कार्य ही नहीं मेरे लिए कोई भी कार्य असंभव है।

प्रेम शंकर पाण्डेय

प्रथम अध्याय

समकालीनता : अवधारणा, परिदृश्य और हिंदी कविता

I. समकालीनता : अवधारणा

सामान्य तौर पर समकालीनता से तात्पर्य समय को व्यक्त करने वाली धारणा से होता है। जिस समय में हम जी रहे हैं उसे समकालीन समय कहते हैं। अपने कोशगत अर्थ में 'समकालीन' का अर्थ होता है - "जो (दो या कई) एक ही समय में हो।"[1]

किन्तु समकालीनता केवल 'कालगत' अर्थ से अधिक 'मूल्यगत' अर्थ को भी धारण करती है। इसलिए समकालीनता की अवधारणा को दो अर्थ-संदर्भों -कालगत और मूल्यगत में ही संपूर्णता से समझा जा सकता है। वस्तुत: मूल्यगत अर्थ-संदर्भ ही समकालीनता को व्यापकत्तर और मूल्यवान अर्थ से जोड़ता है और समान प्रतीत होती अन्य शब्दावलियों और विचारधाराओं से अधिक अर्थवान भी ठहराता है। इस रूप में केवल किसी विशिष्ट काल में उपस्थिति मात्र को समकालीन नहीं कहा जा सकता है बल्कि इसका तात्पर्य उस समय विशेष से सार्थक सरोकार भी होता है। इसी से एक बात और भी जुड़ जाती है कि समकालीनता 'प्रदत्त' या 'सहज प्राप्त' विशेषता नहीं है बल्कि उसे 'अर्जित' करना पड़ता है। यह पक्ष मस्तिष्क के 'विवेक-पक्ष' से जुड़ा है, तार्किकता और बोध से जुड़ा है। सत्यप्रकाश मिश्र इसे रेखांकित भी करते हैं - "चौकन्नापन ही समकालीनता का लक्षण है। इस दृष्टि से समकालीनता चालू मुहावरे या रूढ़ि की स्वीकृति नहीं है, इसकी विवेकपूर्ण अस्वीकृति है।"[2]

इसी आधार पर वे तुलसी, कबीर, जायसी, मीरा और भवभूति को, जो अपने समय के प्रतिकूल हैं, चालू मुहावरे, लक्षण, सर्वानुमतिवाद के खिलाफ हैं, को समकालीन मानते हैं।

---

[1] संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर, पृ.सं. 955

[2] माध्यम पत्रिका, अप्रैल-जून 2006, पृ.सं. 5

अपने समय की गति, दिशा और विशिष्टता को समझते हुए, जो अनिवार्यत: 'तटस्थता' की मांग करती है, 'मनुष्यता' के पक्ष में उसमें आवश्यक हस्तक्षेप को ही समकालीनता के रूप में समझा जा सकता है। इसी प्रकार का संकेत विश्वम्भर नाथ उपाध्याय भी करते हैं - "समकालीन शब्द यह बताता है कि काल के इस प्रचलित खंड या प्रवाह में मनुष्य की स्थिति क्या है? इसे उलटकर कहें तो कहेंगे कि मनुष्य की वास्तविक स्थिति देखकर या उसे चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं। शर्त यही है कि लेखक आज के मनुष्य के अंकन में वस्तुगत यानि उसके चित्रण की विधि कोई भी हो लेकिन उसमें जो मानव-बिम्ब उभरता हो वह वास्तविक जीवन के निकट हो।"[3]

अपने समय के मनुष्य को समझने के लिए अपने समय को समझना अनिवार्य है। इस रूप में एक द्वंद्व की स्थिति के बीच से ही मनुष्य और समय को समझा जा सकता है- क्योंकि मानव-सभ्यता का विकास मूलत: उसकी चेतना के विकास का इतिहास रहा है। इसलिए मानव-चेतना ने अपने परिवर्तन के साथ-साथ विभिन्न युगों एवं प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया है। इसलिए वर्तमान की स्थिति दो छोरों के मध्य होती है -उसके आगे जाने की संभावना और उसके पीछे की सीमा के बीच। इसलिए कह सकते हैं कि समकालीनता वह युग है जो उस वैचारिक स्थिति को पूरी तरह समेटता है जिसमें हम रहते हैं, जीते हैं, सोचते हैं, समझते हैं और जिसके व्यापक, वृहत्तर एवं सापेक्षिक संदर्भ हैं। इसलिए समकालीनता में - "केवल वर्तमान का अंश नहीं रहता, अतीत की निरंतरता भी रहती है। दूसरा, किसी भी समय समकालीनता में एक से अधिक प्रवृत्तियाँ उलझी हुई चलती है क्योंकि समाज भी अनेक प्रकार के व्यक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया से बनता है। इसलिए मनुष्य केन्द्रित दूसरी अवधारणाओं की

[3] समकालीन कहानी की भूमिका - विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ.सं. 2

तरह समकालीनता भी द्वंद्व युक्त, गतिमान और जीवंत धारणा है जिसे मानव व्यवहार और चिंतन के बीच घात-प्रतिघात के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता है।"[4]

इसके व्यापक और वृहत्तर पक्ष पर ही प्रकाश डालते हुए सुवास कुमार लिखते हैं कि - "वैसे तो समकालीनता में समय सापेक्षता बिल्कुल जरूरी तौर पर होती है पर यह एक खास ढंग की है। यह 'निरपेक्ष वर्तमान' या 'समसामयिकता' नहीं है। समय के व्यापक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान की बहुआयामी समझ का होना, जनसमुदाय की आशा-आकांक्षाओं के प्रति दायित्व और प्रतिबद्धता महसूस करना समकालीन बनना है।"[5]

स्पष्ट है कि समकालीनता में जनसमुदाय की आकांक्षा, समय के साथ अपने समाज का बोध एवं परिस्थितियों से प्रतिबद्धता का भाव सम्मिलित होता है। इसलिए इसमें समय, समाज और मनुष्य की वस्तुगत स्थिति का भाव खुद-ब-खुद आ जाता है।

मनुष्य के जीवनगत अस्तित्व के साथ ही समाज का अस्तित्व भी अपना स्वरूप बनाता और परिवर्तित करता रहा है। किसी भी युग का समाज न तो अपने पूर्ववर्ती समाज का प्रतिबिंब होता है और न पूरी तरह उससे अलग। परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के कारण ही किसी भी समय में समाज की संरचना एवं उसके मूल्य एक से नहीं होते हैं। इसमें एक ओर अतीत-बोध, परंपरा का ज्ञान एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति विश्वास का भाव होता है तो दूसरी ओर वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं से मुठभेड़ एवं भविष्य के प्रति चिंता का भी भाव प्रमुख होता है। अजय तिवारी लिखते भी हैं कि - "समकालीनता ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वर्तमान के साथ बोध के सामंजस्य का सतत द्वंद्व मौजूद रहता है। किसी भी ऐतिहासिक क्षण

[4] आधुनिकता पर पुनर्विचार - अजय तिवारी, पृ.सं. 181-182

[5] कविता का यथार्थ - संपा. ए.अरविन्दाक्षण, पृ.सं. 99

(युग, आंदोलन, प्रवृत्ति) में बोध और वास्तविकता के सामंजस्य से समकालीनता का ढांचा जन्म लेता है।"[6]

समकालीनता के इसी ढांचे का गहरा संबंध 'प्रासंगिकता' के साथ निर्मित होता है। दोनों के बीच एक प्रकार का पूरकता का संबंध माना जा सकता है। वस्तुत: समकालीनता की वास्तविक पहचान प्रासंगिकता के माध्यम से ही संभव हो पाती है। प्रासंगिकता वैसी 'गतिशील समय-सापेक्षता' है जो व्यतीत प्रसंगों, रचनाओं, विचारों, मान्यताओं आदि के औचित्यपूर्ण अंशों या मूल्यवत्ता का आकलन-परीक्षण कर उसकी पक्षधरता समकालीन समय में करता है। उसकी 'अमरता' का रहस्य इसी सूत्र में छिपा होता है। सत्यप्रकाश मिश्र ने 'समकालीनता का तर्क' नाम के संपादकीय में लिखा भी है - "समकालीनता शाश्वतता और सामयिकता से भिन्न प्रत्यय है। शाश्वतता में या सनातनता में जहाँ स्थायित्व और स्थिरता का बोध होता है वहीं समकालीनता में गतिशीलता और प्रासंगिकता का। परंतु समसामयिकता में जहाँ शाश्वतता का निषेध है वहाँ समकालीनता में शाश्वतता की संभावना है।"[7]

उपरोक्त कथन से ही जुड़ते हुए समकालीनता के संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या समकालीनता और समसामयिकता, तात्कालिकता, समकालिकता, आधुनिकता आदि समानार्थी प्रतीत होने वाले शब्दों में कोई समानता है या ये भिन्न अर्थ के द्योतक हैं।

सामान्य तौर पर ये वर्तमान काल-खंड विशेष के लिए व्यवहृत होते हैं किन्तु इनकी व्यंजना भिन्न है। "समसामयिकता में जहाँ शाश्वतता का निषेध है वहाँ समकालीनता में शाश्वतता की संभावना है।"[8] इसलिए समकालीनता समाज को तुलनात्मक रूप से अधिक सतर्कता, प्रधानता और निश्चितता के साथ ग्रहण करती है। इस प्रकृति के कारण ही वह अपने समय के साथ-साथ अपने से पहले एवं बाद के समय के प्रमुख अंतर्विरोधों एवं

---

[6] आधुनिकता पर पुनर्विचार - अजय तिवारी, पृ.सं. 182

[7] माध्यम पत्रिका, अप्रैल-जून 2006 पृ.सं. 50

[8] माध्यम पत्रिका, अप्रैल-जून 2006 पृ.सं. 5

विसंगतियों की पहचान करती है। अत: समकालीन होना अपने समय और समाज के प्रति ईमानदार होना है। इस प्रकार हम पाते हैं कि एक विशेष काल-खंड के भीतर रहने वाले लोग यद्यपि समसामयिक तो होते हैं लेकिन वे सभी अनिवार्यत: समकालीन नहीं होते। इसलिए समकालीनता में निर्माण का स्वप्न अंतर्निहित रहता है। रघुवीर सहाय ने भी इसी को लक्ष्य करते हुए लिखा है - "मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। भविष्य के प्रति, नियति के प्रति नहीं। वर्तमान में मानव परिस्थिति को मानव नियति मान लेना अनजाने या जान-बूझकर मानव भविष्य की अनंत संभावनाओं को अस्वीकार करना और मानव-भविष्य को अवरूद्ध कर देने वाले मूल्यों और विचारों का पक्षधर होना है ......मनुष्य की प्रतिभा और सामर्थ्य की अनंत संभावनाओं का द्वार अपने अनुभव के लिए खुला रखकर सप्रयत्न उसके वर्तमान को बदलने में जो संलग्न होता है वही समकालीनता का धर्म-निर्वाह करता है।"[9]

इसीलिए समकालीनता का संदर्भ समसामयिकता की तरह किसी कालखंड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं से जुड़ा भर नहीं होता है बल्कि ऐतिहासिक अर्थ- विगत एवं आगत दोनों ही - में समझना और उसके मूल स्रोत तक पहुँचने का विवेक भी है। इस रूप में समकालीनता इतिहास-निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ जाती है। लेकिन इस गंभीर और व्यापक प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति की स्वतंत्रता और मानवीय संवेदनाओं के साथ उसकी संपृक्ति नजरअंदाज नहीं होती है। धूमिल के मतानुसार- "समकालीनता क्या है? रूप, रंग और अर्थ के स्तर पर आजाद रहने की, सामने बैठे आदमी की गिरफ्त में न आने की तड़प, एक आवश्यक और समझदार इच्छा जो आदमी को आदमी से जोड़ती है।"[10]

---

[9] लिखने का कारण - रघुवीर सहाय, पृ.सं. 28

[10] कल सुनना मुझे (भूमिका) - धूमिल

समकालीनता और तात्कालिकता दोनों में समय-बोध की प्रधानता होती है, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। दोनों के अर्थ में विचारधारा और दृष्टिकोण के आग्रह को लेकर अंतर है। तात्कालिकता किसी खास समय में उपस्थित स्थिति मात्र होती है। इसमें किसी विचारधारा या दृष्टिकोण का आग्रह नहीं होता है। जबकि समकालीनता परिस्थितियों की टकराहट तथा मनुष्य-समाज की आवश्यकताओं के दबाव से उत्पन्न होती है। इसलिए इसमें दृष्टिकोण का आग्रह और बेहतरी का भाव प्रमुखता से मिलता है।

आधुनिकता एवं समकालीनता के संबंध और अलगाव को लेकर भी विवाद की कुछ स्थिति है। वस्तुत: दोनों ही परंपरा का सामान्यत: विरोध करते हैं। लेकिन यहाँ दोनों में एक सूक्ष्म अंतर है - आधुनिकता में जहाँ सामान्य तौर पर परंपरा का पूर्णत: निषेध होता है वहीं समकालीनता परंपरा का निरीक्षण कर उसके केवल रूढ़ हिस्से का त्याग करती है। फलत: आधुनिकता में अपने समय और समाज को एक स्वतंत्र इकाई मान लेने के कारण अहं का भाव पैदा हो जाने का खतरा होता है और साथ ही समसामयिक जीवन संदर्भों से जुड़ाव सतही हो जाने का भी। लेकिन समकालीनता एक निरंतर प्रक्रिया है, जहाँ इकाई स्तर पर बदलाव की हमेशा गुंजाइश होती है और इसके पीछे का कारक तत्व यही है कि इसमें समसामयिक संदर्भों से जुड़ाव गहरे संभव करने की प्रबल इच्छा अंतर्निहित होती है। इसीलिए समकालीनता में अधिक सक्रियता और आत्मीयता से व्यापक जन आकांक्षाओं के साथ भागीदारी सुनिश्चित होती है। यही कारण है कि सभी आधुनिक समकालीन नहीं हो पाते हैं।

II. समकालीन सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य

समकालीनता की इस अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में अब अगर समकालीन भारतीय परिदृश्य पर विचार किया जाए तो हम देखते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति नए मूल्यों एवं जीवन-दृष्टि का प्रस्थान बिंदु है और नई राजनीतिक लोकतांत्रिक संरचना ने देश की सामान्य जनता में उत्साह का संचार किया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विषमताओं की समाप्ति की

ओर देश के प्रगति की राह पर अग्रसर होने की आशा थी। लेकिन आगे आने समय में जो कुछ घटित हुआ वह सामान्यजन के लिए अत्यंत मोहभंगकारी था। अप्रत्याशित युद्धों के भयावह दुष्परिणाम देश की जनता के हिस्से में आए। साथ ही, नेहरू की मृत्यु के साथ आदर्श आधारित बहसों का अंत हो गया और राजनीति का अर्थ केवल सत्ता प्राप्ति भर रह गया। राजनीति ने अपनी इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियों और असमानताओं का संरक्षण किया। सत्ता प्राप्ति की इस आपाधापी के बीच भारतीय लोकतंत्र खतरे में दिखाई पड़ने लगा। लार्ड कर्जन की उक्ति मानो सच होती मालूम पड़ने लगी जिसने- "तकरीबन सौ साल पहले अपनी प्रजा को सलाह दी थी कि उसे अपनी मुक्ति राजनीति की दुनिया में तलाशनी ही नहीं चाहिए।"[11] साठ के दशक में विराट छवि वाले नेताओं और उनकी पार्टी, कांग्रेस पार्टी का वर्चस्व पहली बार टूट गया- "कर्जन से भी ज्यादा स्पष्ट और तीखे स्वर में अमेरिकी विद्वान सेलिंग हेरिसन ने अपनी किताब में दावा किया कि भारतीय लोकतंत्र का ध्वंस सन्निकट है। मैक्सवेल और रोनाल्ड सेगल ने भी साठ के दशक के संक्रमणकारी चरित्र को नकारात्मक रूप में देखा। उन्होंने घोषणा की कि भारतीय राज्यतंत्र राजनीतिक अस्थिरता और असफलता के संकटों को नहीं झेल पाएगा। मैक्सवेल ने तत्कालीन 'लंदन टाइम्स' में यहां तक लिख दिया कि 1967 का चुनाव भारत का अंतिम निर्वाचन होगा।"[12] साथ ही- "सत्तर के दशक में इसी औपनिवेशिक अहंमन्यता ने अपने भारतवंशी अनुयायियों की आत्महीनता को मुखर होने के मौका दिया। विद्याधर नैपॉल जैसे प्रेक्षकों ने इंदिरा गांधी द्वारा थोपे गये आपातकाल को भारतीय लोकतंत्र की शोकांतिका घोषित कर दिया। उन्होंने व्यवस्था की समस्याओं को भारतीय सभ्यता के व्यापक संकट से जोड़कर 'अंधकार का क्षेत्र' जैसे सूत्रीकरण किये। नैपॉल ने अफसोस के साथ यहां तक कहा कि आज

---

[11] भारतीय होता लोकतंत्र - अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 25

[12] भारतीय होता लोकतंत्र - अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 26

भारत अकेला खड़ा है और उसकी पतनशील सभ्यता के पास न कोई विचार है और न कोई विदेशी विजेता ही है जो उसके समाज को शांति और व्यवस्था का अवदान दे सके।"[13]

लेकिन इस पूर्वाग्रहग्रस्त विचार से भिन्न ऐसी अनेक बौद्धिक धाराएं थीं जो भारतीय लोकतंत्र के राष्ट्रवादी विमर्श के माध्यम से सकारात्मक परिवर्तन की इच्छा रखती थीं। इसके लिए वे भारतीय सामाजिक संरचना में आमूल परिवर्तन की पक्षधर थीं "नेहरू और उनकी मंडली सांविधिक-कार्यविधिक लोकतंत्र और वैकासिक रणनीति के जरिए जातियों, राष्ट्रीयताओं, भाषाओं और संस्कृतियों के खानों में बँटे समाज को उसकी बहुलता और विविधता का सम्मान करते हुए बदलने के सपने में डूबी हुई थी। ....दूसरी तरफ भीमराव अम्बेडकर थे जो ......लोकतंत्र के सांविधिक राजनीतिक उसूल तथा कर्मकांडीय श्रेणीबद्ध समाज व्यवस्था के बीच टकराव को लेकर चिंतित थे। उन्हें डर था कि एक वोट और एक व्यक्ति का सिद्धांत राजनीति में लागू तो होगा पर समाज के स्तर पर यह समता उपलब्ध नहीं हो पाएगी।...........तीसरी धारा के शिखर पर विनायक दामोदर सावरकर थे। राजनीतिक हिंदुत्व के इस सिद्धांतकार को ऐसा बहुलतावादी लोकतंत्र स्वीकार्य नहीं या जिसमें अल्पसंख्यकों को बराबर के अधिकार मिलने की संभावनाएं हों। ....चौथी धारा कम्युनिस्टों की थी। वे वर्ग-सिद्धांत के प्रभाव में बहुलतावादी लोकतंत्र को बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही के रूप में व्याख्यायित करने के लिए बाध्य थे। उनकी कोशिश किसानों-मजदूरों का मोर्चा बनाकर उसके नेतृत्व में पूंजीवादी क्रांति करने की थी।"[14]

लेकिन, "इन धाराओं के समांतर एक और धारा थी जिसके शीर्ष पर गांधी थी। ....दरअसल, गांधी का विमर्श लोकतंत्र-संबंधी सकारात्मक और नकारात्मक विचारों की भीड़ में ऐसा अकेला विमर्श था जो जनता की आवश्यकताओं के मुताबिक लोकतंत्र को ढालने की

---

[13] भारतीय होता लोकतंत्र - अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 26

[14] भारतीय होता लोकतंत्र - अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 26-27

तरफदारी करता लगता था। ....वे हितों की होड़ की बजाए जनता की बुनियादी आवश्यकताओं को प्राथमिकता देते थे।......जाहिर है कि उनका मॉडल कमोबेश 'प्रत्यक्ष लोकतंत्र' का था।"[15]

इस पूरी पृष्ठभूमि पर भारतीय राजनीति की वह कहानी उभरकर आती है जिसने समकालीन समय को अत्यंत व्यापक और प्रभावी रूप से प्रभावित किया। उतार-चढ़ाव और व्यापक महत्व के सकारात्मक एवं नकारात्मक परिवर्तन लेता हुआ समकालीन भारतीय राजनीति का खाका तैयार होता है। 1969 का वर्ष "खेतिहर जमीन के मालिकाने में समता की मांग करता हुआ धुर वामपंथी नक्सली आंदोलन"[16] का वर्ष था और "यही वह दौर था जब अपने जन्म और पालन-पोषण के बीस वर्षों के बाद भारतीय लोकतंत्र की प्रकृति और चरित्र में उल्लेखनीय परिवर्तन आया ....लोकतंत्र के शिशु को अब नर्सरी से बाहर अधिक नैसर्गिक और अधिक जोखिम भरी आबोहवा में उतारा जा रहा था। यह व्यवस्था की असफलता का नहीं बल्कि राजनीतिक दायरे में नये तबकों को शामिल करने में लोकतांत्रिक राजनीति की असाधारण सफलता का द्योतक है।"[17]

विजय कुमार ने भी इसी को लक्ष्य करते हुए लिखा है - "भारतीय समाज में जनतांत्रिक चेतना मात्र राजनीतिक पार्टियों और चुनाव के जंगल से निकलकर समाज के मूल ढाँचे की उन भीतरी परतों तक जा रही है जो अब तक 'पालिटी' की पकड़ से बाहर थे।"[18] राजनीतिक चेतना से संबंधित कुछ सकारात्मक परिवर्तन समकालीन परिदृश्य पर दिखाई पड़ते हैं। विजय कुमार ने इसकी ओर भी प्रमुखता से संकेत किया है - "हम एक ओर यदि तंत्र की शक्ति को पहले से कहीं ज्यादा पर्सनलाइन्ड, तदर्थ और दमनकारी होकर उत्पादक शक्तियों के

---

[15] भारतीय होता लोकतंत्र - अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 27-28

[16] कायापलट की कहानी -योगेन्द्र यादव, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 45

[17] कायापलट की कहानी -योगेन्द्र यादव, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 45

[18] कविता की संगत - विजय कुमार, पृ.सं. 16

संघर्ष को कुचलते हुए देखते हैं तो दूसरी ओर जनसमूहों के भीतर से कुछ रचनात्मक शक्तियों को भी उभरते हुए पाते हैं। पहली बार देश के अलग-अलग हिस्सों में ये रचनात्मक और संघर्षशील अभिव्यक्तियाँ अपनी चेतना और बरताव में स्थापित व्यवस्था के विभिन्न रूपाकारों को चुनौती देती हुई और मानवीय अस्मिता और जनतांत्रिक अधिकारों की मांग करती दिखाई पड़ती है। ये अभिव्यक्तियाँ शोषक शक्तियों के एक समग्र और कामचलाऊ बोध को लेकर सामने नहीं आयी है, बल्कि शोषक-व्यवस्था के विभिन्न स्तरों, रूपों और कार्यप्रणाली की भी पहचान करती नजर आती है। इस समूचे संघर्ष में वे बिचौलिया वर्ग की भूमिका खारिज करती हुई बहुत ठोस और बुनियादी मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रही हैं। कहीं अछूत और पिछड़ी जातियों का मुद्दा लेकर, कहीं स्त्री मुक्ति की आवाज उठाती, कहीं दलित वर्ग के मोर्चे पर सामाजिक शोषण को आर्थिक शोषण की प्रक्रिया से जोड़ने की समझ पैदा करती हुई, कहीं बंधुआ मजदूरों और छोटे किसानों को संगठित करती हुई, कहीं पर्यावरण और वन्य संरक्षण के प्रश्न को मनुष्य की समूची अस्मिता से जोड़ती हुई तो कहीं अभिव्यक्ति की आजादी और नागरिक अधिकारों के सवाल पर संघर्ष करती हुई प्रकट हुई हैं। इन अभिव्यक्तियों ने न केवल सोच में परंपरागत राजनीतिक मुहावरेबाजी को अपदस्थ किया है, बल्कि सत्ता अधियाचन की धारणा से आगे जाकर 'क्रांति' और 'बदलाव' के अर्थों को पुन: परिभाषित करना आरंभ किया है।"[19]

सन् 1990 के पहले के दशक को दो विपरीत ध्रुवों के माध्यम से भी समझा जा सकता है जो गहरे और व्यापक अर्थों में राजनीतिक अभिप्रायों से जुड़ा हुआ है । एक ध्रुव पर स्थापित व्यवस्था या तंत्र का निरंतर बढ़ता हुआ स्वेच्छाचार है तो दूसरी ओर लोकतंत्र के वास्तविक आधार सामान्य जनता के बीच से रचनात्मक और परिवर्तनकारी शक्तियों का उभार है । यहाँ स्थापित और बड़े राजनीतिक और सत्ता के केंद्रों का टूटना भी ध्यान में रखा जाना

[19] कविता की संगत - विजय कुमार, पृ.सं. 16-17

चाहिए । इस सकारात्मक उभार के साथ यह विशेषता लगी हुई है कि यह पारंपरिक अर्थ में राजनीतिक नहीं है या कम है । अर्थात् इस बदलाव और उभार में राजनीतिक पार्टियों/दलों की भूमिका नहीं है या फिर लगभग नगण्य है । इस प्रकार यह राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए मध्यस्थ की भूमिका की समाप्ति की प्रक्रिया का आरंभ माना जा सकता है। यह राजनीतिक जागरुकता या अधिकारों के वास्तविक लोकतांत्रिकरण की ओर भी इशारा करता है। दलित, आदिवासी, निम्नवर्गीय, अल्पसंख्य, स्त्री आदि चिंतनों और विमर्शों से आगे पर्यावरण, पशु, वन्य, भूमि संरक्षण तक के मुद्दे क्रमश: हावी होते गये हैं। अपने समूचे रूप में यह व्यापक जनतांत्रिक अधिकारों की मांग के ही अनेकानेक पहलू हैं। साथ ही, 'सामाजिक बदलाव' के ज्यादा व्यापक, सरल और आसान समझ को भी प्रकट करता है। 'क्रांति' ज्यादा निकट की चीज प्रतीत होती है और छोटे-छोटे बदलावों के समूहन की पर्यायता को भी सामने लाती है। विजय कुमार भी लिखते हैं - "आठवें दशक में चाहे चिपको आंदोलन हो या शंकरगुहा नियोगी के नेतृत्व में चलने वाला छत्तीसगढ़ के खनिकों का संघर्ष या रय्यत संघ द्वारा कनकपुरा में आरंभ किया गया ग्रेनाइट आंदोलन हो या महाराष्ट्र में किसान नेता शरद जोशी का शेतकारी संघटन या फिर गुजरात और महाराष्ट्र में ही दलितों के विभिन्न आंदोलन - ये सभी अभियान मात्र राजनीतिक-आर्थिक मांगों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि ये पर्यावरण, पोषण, आवास, जलशुद्धि और संस्कृति तक के मामलों को उठाते हैं और इस प्रकार विकास की पश्चिमी धारणा की असंगतियों पर हमला करते हैं। पहली बार आजाद भारतीय समाज में कुछ आधारभूत नागरिक अधिकारों के मसलों को लेकर गैर-राजनीतिक ढंग के जन-आंदोलन दिखाई पड़ते हैं और इस प्रकार 'राजनीतिक कार्रवाई' के अर्थ को विस्तार देते हैं।"[20]

[20] साठोत्तरी हिंदी कविता : परिवर्तित दिशाएं - विजय कुमार, पृ.सं. 112

यह अर्थ-विस्तार मौजूदा ढाँचे में केवल बदलाव या सुधार के स्वप्न को आगे लेकर जाता है। शोषित समाज के वास्तविक सशक्तिकरण की प्रक्रिया आरंभ करता है। केवल सत्ता-हस्तांतरण उद्देश्य नहीं रह गया।

रजनी कोठारी का विश्लेषण भी महत्वपूर्ण ढंग से इसी ओर इंगित करता है - "इन स्थितियों में एक नयी अलग राजनीतिक संरचना भी उभर सकती है। केन्द्रीय सत्ता यानी नयी दिल्ली में ही सब-कुछ न देखने की शुरूआत पहले ही हो चुकी है। न सिर्फ जातीय अस्मिता और क्षेत्रीय आत्म निर्णय के आंदोलन केन्द्रीय सत्ता से दूर जा रहे हैं बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय के आंदोलन भी उससे परे हट रहे हैं। चाहे मंडलवाद का आंदोलन हो या विस्थापन और जबरिया बेदखल किये जाने के खिलाफ आदिवासियों का संघर्ष हो, सभी केन्द्रीय सत्ता से परे हटे रहे हैं। इसी क्रम में नारी का व्यक्तित्व बिल्कुल नये तरह का दावा पेश कर रहा है। इस दावे में दमन के देशी ढाँचे के खिलाफ विद्रोह की गहरी भावना है। ....इसी सिलसिले में 'भारत के फिर से उठ खड़े होने की प्रक्रिया को भी रखा जा सकता है। यह भारत.........आदिवासी और विभिन्न देशज समूहों में पायी जाने वाली जमीनी लोकतंत्र की वास्तविक और गंभीर तलाश द्वारा निर्धारित भारत है। यह उन पारंपरिक दस्तकार समुदायों का भारत है जो भारतीय हस्तकला और संस्कृति का निशांत करने की कोशिश में लगे शहरी और अंतरराष्ट्रीय पूंजीपतियों से संघर्ष कर रहा है। यह उन कलाकारों, कार्यकर्ताओं और वैकल्पिक मीडिया के हिमायती लोगों का भारत है जो अपने और अपने देश के लिए नयी अस्मिता की खोज कर रहे हैं।"[21]

समकालीन परिदृश्य के संदर्भ में 20वीं सदी के अंतिम दशक अर्थात 1990-91 के वर्ष से आरंभ होने वाले दशक का कई कारणों से निर्णायक महत्व है। वैश्विक स्तर पर सोवियत संघ के बिखरने और विश्व के एक ध्रुवीय अमेरिकी वर्चस्व में समाने का समय यही है। इसी

[21] लोकतंत्र के सात अध्याय - संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 204

के साथ भारतीय संदर्भ में आर्थिक उदारीकरण के लागू होने का समय भी यही है और वस्तुत: आर्थिक किन्तु उसके माध्यम से आम जीवन का प्राय: प्रत्येक क्षेत्र निजीकरण और फिर क्रमश: भूमंडलीकरण के आगोश में डाल दिया गया। यह कालखंड और वहाँ से शुरू होने वाली भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का अत्यधिक महत्व है और वह विशेष कर इस रूप में कि इसने पारंपरिक भारतीय जनमानस में क्रांतिकारी बदलाव उपस्थित कर दिये। अर्थ की केन्द्रीयता पहले भी समाज के विशिष्ट, संपन्न ऊपरी तबके में रही है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत में तमाम राजनीतिक, व्यापारिक भ्रष्टाचारी तिकड़मों के माध्यम से देश के संसाधनों का अपने हित में दोहन करता रहा था। लेकिन इस प्रक्रिया ने आरंभ से ही आम व्यक्ति, विशेषकर शिक्षित मध्य वर्ग को अवसरों और महत्वाकांक्षाओं की ऐसी दुनिया में लेकर आ गया जहाँ अर्थ और उससे प्राप्त होने वाली भौतिक सुविधाएं ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य रह गया। अर्थ केन्द्रित इस पूरी प्रक्रिया एवं व्यवस्था का संचालन बाजार के हाथों में था और बाजार एवं मनुष्य का संबंध चूँकि केवल उपभोक्ता का होता है इसलिए बाजार ने अपनी प्राण रक्षा और हित पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक उपभोक्ता व्यक्ति को पैदा किया ताकि निरंतर और अबाध उपयोग संभव हो सके। स्थिति यह हो गयी है कि एक आम आदमी विचित्र विरोधाभासी और विडम्बना युक्त जीवन जीने के लिए बाध्य है। वह पहले की तुलना में आज आर्थिक रूप से अधिक सक्षम है, लेकिन बाजार के सामने पहले से अधिक असहाय और बौना अनुभव करता है।

इसीलिए अगर समकालीन समय और उसके बीच रहते आदमी को समझना है तो भूमंडलीकरण को समझना होगा। विशेषकर उस पीढ़ी का, जो आज मुख्य रूप से कार्यशील आबादी का निर्माण करती है या वह पीढ़ी जो 20वीं सदी के अंतिम दशक के आरंभ के आस-पास जन्म लेकर अब अपने जीवन के निर्णायत्मक चरण में हैं, के वर्तमान जीवन और जीवन-दृष्टि को निर्धारित करने वाला सर्वाधिक निर्णायक कारक भूमंडलीकरण ही है। विचारों

से लेकर अपने खान-पान, रहन-सहन, संबंधों, जीवन के सभी पहलुओं में वह अर्थ की महत्ता को स्वीकार कर चुका है। अर्थ की इस महत्ता ने मनुष्य की जिस आधारभूत प्रकृति को सर्वाधिक नुकसान पहुँचाया है वह है- संवेदना। पूरा समाज संवेदनाविहीन यांत्रिक जीवन का आदी होता जा रहा है, जहाँ जीवन में मूल्यों, नैतिकता, सार्थकता आदि की कोई जगह नहीं है। केवल सफलता ही एकमात्र मंत्र है, वह भी केवल आर्थिक रूप से। यह एक कैरियरिस्ट समाज है।

इस पूरी स्थिति को अधिकांश विचारकों ने मानवता के संकट के रूप में देखा है। इसके व्यापक दुष्परिणामों की चर्चा भी की है जो अनंत उपभोग से जुड़कर पर्यावरणीय संकट को जन्म दे रहा है। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में यह संकट - "असाधारण है और अपूर्व भी। उसकी चपेट में मानव समाज ही नहीं प्रकृति और पर्यावरण भी है। जिसके विनाश की स्थिति में मानव-समाज का अस्तित्व भी असंभव है। यह संकट किसी देश और समाज तक सीमित नहीं है, यह विश्वव्यापी है। वह आर्थिक और राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और नैतिक भी है। उसकी पहुँच मनुष्य की जिंदगी के हर हिस्से तक है।"[22]

विश्वग्राम की अवधारणा आज केवल संकट के संदर्भ में फलीभूत होता दिखाई पड़ रहा है- "बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में पता नहीं हमारी यह दुनिया किस हद तक विश्वग्राम बन पायी है पर पूंजी, तकनीक और बाजार ने यकीनन हमारी रोजमर्रा की जिंदगी को कुत्तों की तरह चाँप लिया है। लोग-बाग किसी सुनहरे भविष्य को लपकते चीखते-चिल्लाते बदहवास से सरपट आगे चले जा रहे हैं। संकल्पनाएं टूट रही हैं।"[23]

भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया की शुरूआत के साथ ही भारतीय संदर्भ में 20वीं सदी के अंतिम दशक के आरंभ का समय और भी कई निर्णायक घटनाओं से जुड़ा है, जिसने आगे के

[22] संकट के बावजूद- मैनेजर पाण्डेय, पृ.सं. 9

[23] सदी के अंत में कविता (उद्भावना कवितांक) - विजय कुमार, पृ.सं. 47-48

समय के भारतीय जनमानस को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। योगेन्द्र यादव ने इसे समवेत रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया है - "वर्तमान दौर नब्बे के आसपास शुरू हुआ। उस समय राष्ट्रीय क्षितिज पर तीन मकार उभरे। यह सोवियत संघ के विघटन का भी समय था जिसने भारतीय राजनीति में समाजवादी मुहावरे का बोलबाल खत्म कर दिया था।

ये तीन मकार हैं, मंडल, मंदिर और मार्केट। विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने अगस्त 1990 में जब अचानक पिछड़ों के लिए आरक्षण की सिफारिशों को लागू कर दिया तब मंडल पिछड़ों के उस आंदोलन का पर्याय बन गया। मंदिर से तात्पर्य संघ परिवार के राम जन्मभूमि आंदोलन से है जिसकी परिणति 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद के ध्वंस में हुई। तीसरा मकार यानी मार्केट से आशय आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीय अर्थव्यवस्था से जुड़ी नीतियों से है।"[24]

मस्जिद विध्वंस की घटना ने भारतीय समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित कर संप्रदायगत पहचान और भेद को जन्म दिया और जो सन् 2002 के गोधरा कांड से होते हुए आज भी जारी है।

मंडल या आरक्षण ने समाज के बड़े भाग को अवसरों की उपलब्धता करायी और पिछड़े तथा दलित वर्ग को न केवल रोजगार बल्कि राजनीतिक, सामाजिक रूप से अत्यधिक जागरूक, सचेत बनाने का काम किया। भारतीय समाज अधिक लोकतांत्रिक और अधिक भागीदारी वाला समाज बनने की ओर अग्रसर हुआ। सन् 1990 के बाद के भारतीय समाज के शारीरिक और मानसिक दोनों गठन को समझने में उनकी निर्णायक भूमिका रही है।

उपरोक्त कुछ सकारात्मक परिवर्तनों को छोड़कर अधिकांश परिवर्तन संकट पैदा करने वाले हुए। पहले के और आज के भारतीय आम आदमी की प्रकृति में आधारभूत अंतर आ

---

[24] कायापलट की कहानी, लोकतंत्र के सात अध्याय, संपा. अभय कुमार दुबे, पृ.सं. 52

चुका है और वह अपनी पहचान और संकट दोनों ही में स्थानीय या राष्ट्रीय कम, वैश्विक अधिक हो गया है।

इस पूरे उथल-पुथल और परिवर्तन को नामवर सिंह सर्वग्रासी और अभूतपूर्व बताते हैं - "इस दशक की घटनाओं-दुर्घटनाओं को याद करें तो यह एक युग नहीं बल्कि कई युगों का युग है। सहस्राब्दी का अंत ही अनेक विध्वंस-लीलाओं से हुआ। सबसे पहले सोवियत समाज का विध्वंस फिर अपनी ही घर में पाँच सौ साल पुरानी तथाकथित बाबरी मस्जिद का ध्वंस और उसी के साथ सेकुलर संस्कृति की समूची परंपरा की 'कार-सेवा'। आकस्मिक नहीं है कि उसी समय नेहरू युगीन विकास की राष्ट्रीय परियोजना भी समाप्त हो गया और भारतीय अर्थतंत्र साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण के अर्थतंत्र में जा फंसा। साथ-साथ राजनीति भी बदली और हिंदू फासीवाद की ताकतें जो अभी तक हाशिए पर थी सत्ता के केन्द्र पर काबिज हो गयी। फिर तो अर्थ तंत्र, राजतंत्र और समाज तंत्र के ढाँचे में ऐसी तोड़-फोड़ शुरू हुई कि देश की सीधी-सादी क्षेत्रीय एकता को बचा रखना भी मुश्किल मालूम होता है। यह पूरा दशक एक ऐसे संकट का दौर है जो देश के समकालीन इतिहास में अभूतपूर्व है; साथ ही सर्वग्रासी और बहुत गहरा भी है।"[25]

III. समकालीन हिंदी कविता

वर्तमान में लिखी जा रही कविता जिस जनसामान्य को अपने कलेवर में चित्रित कर रही है उसकी निर्मिति में समकालीन परिदृश्य की बड़ी भूमिका है। यदि आज के आम व्यक्ति से लेकर खास व्यक्ति को समझना अनिवार्य है, जिसके बीच वह आकार ग्रहण कर रहा है तो इस समझ के लिए आज हमारे सामने उपलब्ध सबसे बड़ा सूत्र 'भूमंडलीकरण' ही है। आज की हिंदी कविता इस सूत्र को अनेकानेक अर्थों और संदर्भों में निरंतर व्यक्त कर रही हैं और

[25] पुनर्नवता - नामवर सिंह, आलोचना, अप्रैल-जून 2000, पृ.सं. 5

इसीलिए अगर -समकालीन हिंदी कविता' संबोधन औचित्यपूर्ण ठहराना है तो इसे सन् 1990 के बाद की हिंदी कविता कर्म से जोड़ कर देखना होगा।

राजेश जोशी का भी यही मानना है - "समकालीनता के पद का निर्धारण मुझे लगता है, समय को विभाजित करने वाली ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए,.... मैं सोचता हूँ कि एक महाजाति के जीवन में घटित हुई एक ऐसी घटना जो सामूहिक मन-मस्तिष्क को विचलित कर डालती है, जो समय को अवधारणात्मक या मानसिक स्तर पर उस घटना के पहले और बाद की स्थितियों में बाँट देती है; उसे समकालीनता को निर्धारित करने वाली एक सीमा रेखा मान लिया जाना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी हर बड़ी घटना मात्र एक घटना भर नहीं होती। न वह किसी एक क्षण में घटित होती है और न उस खास क्षण में वह समाप्त होती है। वह एक वृहत प्रक्रिया होती है, जिसके सूत्र उसके अतीत और भविष्य में दूर तक फैले होते हैं, लेकिन उसका एक आत्यंतिक क्षण होता है। जिसे एक विभाजक रेखा की तरह स्वीकार किया जा सकता है।"[26]

आगे वह अपने इस सिद्धांत को व्यवहार के स्तर पर लागू कर उन घटनाओं का भी हवाला देते हैं जिनका इस संदर्भ में व्यापक महत्व है। सन् 1985 में बिल गेट्स के विण्डो के आने, सी.एन.एन. के प्रवेश, सूचना के अधिकार, मुद्रा के प्लास्टिक मुद्रा में रूपांतरण आदि को रेखांकित करते हुए वे अंतत: बताते हैं - "साथ ही सोवियत संघ में समाजवादी समाज के पराभव से इस समय के बीच एक विभाजक रेखा खींच दी। शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा अमेरिका ने जिस आक्रामक तेवर और उदंडता के साथ की, उसने एरोगेन्स को जैसे हमारे समय की मुख्य प्रवृत्ति बना दिया है। उसी के अनकरीब धार्मिक कट्टरवाद के उभार और बाबरी मस्जिद के विध्वंस ने भी हमारे समय को विभाजित करने की एक रेखा खींची। मुझे लगता है समकालीनता पद को इस्तेमाल करने के लिए हम इन विभाजक रेखाओं को स्वीकार

[26] समकालीन हिंदी कविता: बदलते परिवेश, राजेश जोशी, विवेक वर्धिनी महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित संस्मारिका, पृ.सं. 1

किये बिना आगे नहीं बढ़ सकते। इन घटनाओं के बाद हिंदी कविता के अंत:करण का आयतन बदल गया है।"[27]

लेकिन साथ ही वह सचेत भी करते हैं - "किसी तरह के समाजशास्त्रीय अर्थ में मैं घटनाओं और कविता के बीच किसी संबंध को तलाशने की कोशिश नहीं करना चाहता; मैं सिर्फ समकालीनता पद की, अपने लिए इकाई बनाना चाहता हूँ..... कविता में होने वाले बदलाव को दो और दो चार के गणित की तरह नहीं समझा जा सकता। जीवन में होने वाली उथल-पुथल और कविता के बीच का रिश्ता बहुसंस्तरीय और काफी जटिल है।"[28]

सन् 1990 के बाद की हिंदी कविता ने प्राय: सभी राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर घटित हो रहे परिवर्तनों को पकड़ने का प्रयत्न किया है। सभी स्तरों पर परिवर्तन अत्यंत तीव्रता से घटित हो रहे हैं और समकालीन कविता यथासंभव उनको दर्ज कर रही है। एक प्रकार से कहें तो समकालीन हिंदी कविता पर 'मांग और पूर्ति' का अत्यधिक दबाव है, जो कम-से-कम कविता करने की शर्त नहीं हो सकती है। परिवर्तन की प्रक्रिया और उसका प्रभाव जब तक अपना ठोस रूप ग्रहण नहीं करता,अपनी समग्रता में नहीं आता, कविता उस पर अपना निर्णय नहीं दे सकती है। उसे उसकी पूरी व्यापकता और सभी संदर्भों के उभरने की प्रतीक्षा एक द्रष्टा के तौर पर कवि करता है और सकारात्मक या नकारात्मक या फिर पक्ष या प्रतिपक्ष के संदर्भ में अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करता है।

'आधारभूत स्तर' (ग्रासरूट) से कविता का जुड़ाव इस समय की कविता की उल्लेखनीय विशेषता है। सत्ता और व्यवस्था के प्रतिरोध में यहाँ विश्वसनीयता पहले से अधिक दिखती है और उसका कारण जनजीवन से जुड़ाव का पहले की तुलना में अधिक गहरा और आत्मीय होना है। विजय कुमार के विश्लेषण को यहाँ लागू करें तो - "प्रतिपक्ष का अर्थ अपने समय के

---

[27] समकालीन हिंदी कविता: बदलते परिवेश, राजेश जोशी, विवेक वर्धिनी महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित संस्मारिका, पृ.सं.2

[28] समकालीन हिंदी कविता: बदलते परिवेश, राजेश जोशी, विवेक वर्धिनी महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित संस्मारिका, पृ.सं. 1-2

मनुष्य के जीवन की बुनावट के अंतर्विरोधों को समझना था। बिना इन अंतर्विरोधों को समझना था। बिना इन अंतर्विरोधों को समझे मात्र बाहर से आक्रामक हो जाने की व्यंजना का एहसास कवियों की नयी और संभावनाशील पीढ़ी को होने लगा था।"[29]

इस पूरे कालखंड की कविता के सामने वैचारिक प्रतिबद्धता का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं रह गया था लेकिन जनपक्षधरता या आम व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता को उसने कम नहीं होने दिया। बल्कि ज्यादा वास्तविक अर्थों में संभव हो सका। रचनाकार जिनके लिए लिख रहा है उनसे अलग दिखकर केवल बयान या उपदेश देने की कोशिश नहीं करता है बल्कि उनके बीच का एक भोक्ता के तौर पर अपनी बात रखता है। यहाँ विशेष बात यह है कि उसकी अपनी बात सबकी बात हो जाती है। संभवत: राजेश जोशी ने इसी को 'शामिल आदमी की कविता'[30] कहा है।

इसी कारण कवि उस गहरे तल तक पहुंच पाता है जहाँ से एक औसत और नजरअंदाज कर दिये जाने वाले आदमी के जीवन की ताकत, प्रतिरोधात्मक शक्ति, जिजीविषा, इच्छाशक्ति और सबसे बढ़कर उसके जीवन के सौंदर्य की पहचान कर लेता है। यह 'नायक के निष्कासन'[31] के बाद की कविता है अर्थात् प्रत्येक साधारण आदमी के नायक हो जाने की गुंजाइश की कविता है। लेकिन यह नायकत्व अन्यों से काटकर विशिष्ट बना देने में नहीं है बल्कि उसकी सामान्यता में है। खगेन्द्र ठाकुर के विचार का संदर्भ भी यहाँ जुड़ जाता है- "कवि यथार्थ का मनोवादी मूल्यांकन करने की बजाय कविता में सामाजिक जीवन के प्रसंगों को चित्रित करते हैं जिनसे मनुष्य और मनुष्य के बीच तथा मनुष्य और व्यवस्था के बीच संबंध का बोध पाठकों को होता है।"[32]

---

[29] साठोत्तरी हिंदी कविता परिवर्तित दिशाएं -विजय कुमार, पृ.सं. 114

[30] सदी के अंत में कविता (उद्भावना कवितांक) - राजेश जोशी, पृ.सं. 56-57

[31] सदी के अंत में कविता (उद्भावना कवितांक) - राजेश जोशी, पृ.सं. 56-57

[32] कविता का वर्तमान - खगेंद्र ठाकुर, पृ.सं. 185

मनुष्य के विकास का इतिहास इस बात की गवाही देता है कि उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। कभी प्रकृति से, कभी वन्य जीवों से, कभी दूसरे मनुष्य से ही, कभी दूसरे कबीले, राज्य या सत्ता से, कभी तो अपने ही नश्वर शरीर से। आरंभ से ही यह संघर्ष रहा है और मानव सभ्यता की कहानी इसी का शब्दांकन भर है। लेकिन आरंभिक संघर्ष की प्रकृति थोड़ी सरल और समझ में आने वाली थी। उत्तरोत्तर यह जटिल होती गयी और आज यह स्थिति है कि संघर्ष के प्रतिपक्ष की समझ ही समाप्त हो गयी है। प्रतिपक्ष सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला गया है और स्थिति तो इतनी भयावह हो गयी है कि कई बार प्रतिपक्ष व्यक्ति स्वयं को ही महसूस करने लगता है। लेकिन मनुष्य की गाथा इन तमाम से लड़ने की रही है और आज भी मनुष्य इकाई स्तर पर बदलाव की संभावनाओं के साथ संघर्षरत है। संघर्ष के इस तनाव के बीच से ही वास्तविक सौंदर्य की निर्मिति होती है जो आरोपित सौंदर्यपरक प्रतिमानों से भिन्न और कई बार विरोधी होती है। कवि दोनों ही स्तरों पर इसकी पहचान करता है। इसलिए एक ओर जहाँ वह अपनी पक्षधरता को साबित करता है वहीं दूसरी ओर पतिपक्ष के बरक्स प्रतिपक्ष का निर्माण भी करता है। कविता की समाजधर्मिता की वास्तविक पहचान यहीं होती है।

इसीलिए काव्यात्मक यथार्थ की रचना में अब वे सभी जीवनगत पहलू या ब्यौरे शामिल या संभव है जिन्हें पहले नजरअंदाज कर दिये जाने की गुंजाइश थी। दृश्य अनुभव बन जाते हैं -

“इस भीड़ में मेरा छोटा भाई है।
पोस्टर चिपकाता हुआ
नारे लगाता हुआ।
अपनी स्थापनाएं रखता हुआ
यह मैं हूँ बंदी। किसी उश्शृंखलता में

किसी उल्लंघन में। बेकार फड़फड़ाता
ध्वस्त मर्यादा की मृत्यु घोषणा का
अपराध पत्र।"[33]

आज के मनुष्य को समझना है तो पहले इस समय की राजनीति को समझना आवश्यक है। एक सत्ता की राजनीति है जो पूरे परिवेश पर हावी है और दूसरी तरफ इस राजनीति के विरोध में राजनीति है जो व्यापक जनसमुदाय के आधारभूत अधिकारों की मांग को लेकर हो रही है। सत्ता की राजनीति के कुचक्र ने ऐसी स्थिति को पैदा किया है जिसने पूरी व्यवस्था और संसाधनों को समाज के एक छोटे किन्तु प्रभावशाली वर्ग तक सीमित कर देने की कोशिश में लगा है। बड़े समुदाय की अनदेखी इस राजनीति की सच्चाई है। तब इस राजनीति के प्रतिपक्ष में एक राजनीति है जो आम आदमी की जिंदगी और उसके समय समाज की सूक्ष्म तस्वीर पेश करता है। न केवल पेश करता है बल्कि समझता है। रचनाकार इसी राजनीति में शामिल व्यक्ति है जो अपने जीवन के अनुभवों से इस सच्चाई को पाता है कि पूंजी, धर्म, तकनीक, विकास सभी कुछ सत्ता के उपकरण मात्र होकर रह गये हैं, एक आम आदमी के शोषण के। प्रतिपक्ष की इस राजनीति का संबंध सत्ता की प्राप्ति या उसमें भागीदारी नहीं है बल्कि मनुष्य की पीड़ा की अभिव्यक्ति और उसकी समाप्ति की कोशिशों से है। इस रूप में कविता एक आम आदमी और उसके जीवन प्रसंगों की त्रासद स्थिति एवं विडम्बनाओं के माध्यम से राजनीति को व्यक्त करती है।

अब तक गैर महत्वपूर्ण और अनाटकीय समझे जाते रहे दैनिक यथार्थ पर उदय प्रकाश ध्यान देते हुए लिखते हैं- "दिनचर्या का एक दिन स्वयं में पृथक और निस्संग नहीं होता। वह अपने आस-पास के परिवेश, बल्कि संसार और सभ्यता के इतिहास का अनुषंग होता है और इतिहास का एक अनिवार्य अवयव होता है। इसीलिए रोजमर्रा की एक घटना को कविता में

---

[33] इस यात्रा में - लीलाधर जगूड़ी, पृ.सं. 9

व्यक्त करने के लिए भी जरूरी तौर पर इतिहास बोध की अनिवार्यता होती है। इतिहास-बोध की शून्यता की स्थिति में भटकने वाली वैयक्तिक और निरपेक्ष कविता बृहत्तर मानवीय संदर्भों में अपना कोई मूल्य नहीं रखती।"[34] (अंतत: मार्च 1979, पृ.सं. 11)

कविता के लिए इतिहास की आवश्यकता इसलिए भी है कि वह आज के मनुष्य के चारित्रिक गठन को समझने के लिए अतीत के उन अभिप्रायों को जाने, जहाँ मानवीय संघर्ष, स्वप्न, जिजीविषा अर्थात कुल मिलाकर सुख और दु:ख के संदर्भ संरक्षित हैं। इस रूप में एक ओर तो मनुष्य की आकांक्षाओं, भावनाओं का संवेदन संसार है और दूसरी तरफ वह संसार जिससे लगातार उसके संवेदन संसार का संघर्ष होता है। इस संघर्ष की दास्तां इतिहास की निरंतरता में दर्ज है जिसे कवि अपने वर्तमान प्रयोजन के संदर्भ में उपयोग करता है।

इसलिए कहा जा सकता है कि इस समय की कविता दोहरे उत्तरदायित्व का वहन कर रही है। व्यवस्था और परिवेश, जिसमें एक आदमी जीवन जी रहा है की विडम्बनाओं और अमानवीयता को सामने लाती है, वहीं दूसरी ओर इसे बदलने की एक आम आदमी की इच्छा और उसके प्रयासों पर नजर डालती है। इस दूसरे पहलू की खोज इस समय की कविता की उपलब्धि है क्योंकि व्यवस्था विरोध की कविताएं तो पहले भी लिखी जाती रही हैं और या तो समाधान की चिंता नहीं करती थीं या फिर एक चालू, तयशुदा, ऊपर से थोपे गए समाधान को ले आती थीं। या फिर मोहभंग आदि की अभिव्यक्ति करती थीं। लेकिन तटस्थ परिवर्तनकामी अभिव्यक्ति सन् 1990 के बाद ही संभव दिखलाई देती है। मतलब यह कि एक आम आदमी की लड़ाई बगैर आम आदमी के हिस्सेदारी के ही और इसीलिए केवल वैचारिक होकर रह गयी थी। यहाँ संघर्ष और प्रतिरोध केवल मूर्त-व्यवस्था या सत्ता के प्रतिष्ठानों मात्र भर से नहीं है बल्कि उससे कहीं अधिक व्यापक, व्यक्ति की चेतना तक से जो, कहीं-न-कहीं परिवर्तन विरोधी क्रमश: बनाये जाने की शिकार रही हैं, के खिलाफ भी है। इसके कई स्तर हैं और

[34] साठोत्तरी हिंदी कविता परिवर्तित दिशाएं - विजय कुमार, पृ.सं. 137-138

इसीलिए अनिवार्यत: इतिहास-बोध के दायरे में समझे जाने की मांग करते हैं। अनन्त मिश्र इसी ओर संकेत करते हैं - "आदमी के भीतर के आदिम इतिहास से टकराते हैं, जहाँ से सभ्यता संस्कृति के तत्व पैदा होकर आगे उस विकास को प्राप्त हुए और शोषण तथा आदमी की तबाही का सिलसिला आरंभ हुआ। सीधे संदर्भ का नारा न देकर कविताएं शोषित मनुष्य के भीतर उथल-पुथल पैदा करती है, क्योंकि कवि जानते हैं कि बिना उथल-पुथल किये मनुष्य की भीतरी त्वचा को नहीं जगाया जा सकता, जिसकी रगों में यथास्थिति और चुप रहने की रक्त धारा प्रवाहित हो रही है - हजारों वर्षों से।"[35]

मुक्तिबोध ने कविता को 'काल यात्री' माना है। कविता की यह प्रकृति उसे व्यापक निहितार्थों से जोड़ने के साथ ही इतिहास-बोध से भी पूरित करती है। समकालीन कविता की प्रकृति को समझने में इस सूत्र की अहम भूमिका हो सकती है क्योंकि 'समकालीन' नामकरण से उसके कालबद्ध होने के आरोप से मुक्ति इसके माध्यम से ही दिखाई पड़ती है। ए. अरविन्दाक्षन ने स्पष्ट भी किया है - "जब समकालीनता तात्कालिकता को तोड़ती है तो काल चेतना का अर्थ विस्तृत ओर गहरा होने लगता है। कविता की यह अनिवार्य प्रकृति है कि काल की तात्कालिकता को तोड़े, अपनी काल चेतना को मानवीय इतिहास और संवेदों के साथ जोड़े और उस सरोकार को विभिन्न संदर्भों में पहचाने।"[36]

लेकिन इस पहचान के लिए वे 'कला-चेतना' की गहरी समझ की आवश्यकता भी मानते हैं। कला-चेतना को काल-चेतना के समान 'देशज अस्मिता' के साथ जोड़ने वाली कड़ी मानते हुए कला-चेतना को जन-चेतना का संवेदनात्मक रूप कहते हैं। इसका विस्तार वे समकालीन कविता की लोक-दृष्टि तक करते हुए लिखते हैं कि - "समकालीनता की इस दोहरी पहचान में अर्थात् काल-चेतना और कला-चेतना की पहचान में जन-चेतना का सही परिदृश्य ही

[35] साठोत्तरी हिंदी कविता : परिवर्तित दिशाएं - विजय कुमार, पृ.सं. 139

[36] समकालीन हिंदी कविता - ए. अरविन्दाक्षन, पृ.सं. 12

हमें मिलता है। अपनी देशज अस्मिता की खोज की अनवरत यात्रा में कविता ने इस दौर में अपनी समकालीन दृष्टि के कारण जनोन्मुखता का सही परिचय दिया है। ....जनोन्मुखता को आज की कविता के संदर्भ में कविता की लोक-दृष्टि कह सकते हैं; जो कविता की वास्तविक भूमि है। कविता की संवेदना की उन्मेष युक्त संभावनाएं इसी भूमि से अधिक शक्ति पाती हैं।"[37]

समकालीनता में वह शक्ति निहित है जो मनुष्य की चिंतन-शक्ति की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करे। 'चिंतन-शक्ति' की यह स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है जो प्रत्येक स्थिति में किसी भी अन्य सत्तात्मक परतंत्रता के विरूद्ध प्रतिरोध की ऊर्जा को बचाये रखता है। चिंतन-शक्ति की यह स्वतंत्रता इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि इसी के माध्यम से मानव सभ्यता और संस्कृति अपना सर्वोत्कृष्ट सुरक्षित रखने का विवेक हासिल करती है और उसमें निरंतर नवीनता का समावेश करती जाती है।

वर्तमान समय विडम्बना का समय है, एक ऐसा समय जिसके कई चेहरे हैं और प्रत्येक चेहरा वास्तविकता का भ्रम पैदा करता है लेकिन समय के साथ ही उसकी अवास्तविकता सामने आ जाती है। यह समय चरम स्वतंत्रता की घोषणा का है - व्यक्ति स्वातंत्र्य से लेकर राष्ट्र-स्वातंत्र्य तक। निरंतर भूमंडलीकृत होती जा रही दुनिया ने मनुष्य मात्र की आकांक्षाओं के लिए नये आयाम प्रदान किए हैं। चरम वैज्ञानिक उपलब्धि ने मनुष्य को चरम आत्मविश्वास से भर दिया है और नवीन प्रौद्योगिकी से युक्त इतिहास का सर्वाधिक ज्ञानी और चिंतनशील होने का दंभ रखता है। किन्तु यह केवल एक पहलू मात्र है। वर्तमान मनुष्य अपनी जीवनगत स्थितियों के आगे जितना विवश महसूस कर रहा है, वैसा शायद ही कभी रहा हो। ज्ञान से लेकर अन्न तक, संपन्नता और विपन्नता के बीच लगातार दूरी बढ़ी है।

---

[37] समकालीन हिंदी कविता - ए. अरविन्दाक्षन, पृ.सं. 13

चरम संपन्नता ने मनुष्य की नैसर्गिकता को समाप्त कर उसे संवेदना शून्य यंत्र में तब्दील करता जा रहा है तो दूसरी ओर चरम विपन्नता मनुष्य को मनुष्य कहलाने की आधारभूत आवश्यकताओं से भी वंचित रखा हुआ है। अधिकांश विश्व नवउपनिवेशवादी शोषण के जाल में फंसा हुआ है। अर्थ-केन्द्रित और मुनाफा संस्कृति ने केवल दिखावे भर के लिए 'मानवाधिकार' और 'संवेदनशीलता' का नारा दे रखा है। समकालीनता 'विवेक' को चरम मूल्य घोषित करती है और घोषित-अघोषित की विडम्बना को पहचानने का उपक्रम करती है। इस उपक्रम में समकालीनता अनिवार्यत: ऐतिहासिक विकास क्रम को समझने का यत्न करती रहती है। इतिहास और परंपरा का उसके लिए महत्व कुछ इसी रूप में है, लेकिन यहाँ 'विवेक' के संदर्भ में संकट और सीमाएं भी हैं। ए. अरविन्दाक्षन इसे कुछ इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं - "लेकिन हमारी अस्मिता और स्वत्वखोज की अपनी सीमाएं भी हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि वह उपनिवेशवादी परिवेश के द्वारा उत्पादित या उससे जन्मा है। उपनिवेशवादी शिक्षा-पद्धति ने हमें जो इतिहास-बोध प्रदान किया है, उसके जितने संकल्प हैं या उसका जो भी जीवन दर्शन है, वे हमारे स्वत्वबोध को निर्दिष्ट करना चाहते हैं। यही हमारी सांस्कृतिक गुलामी है।"[38]

साथ ही आगे लिखते हैं कि- "हमारे इतिहास बोध में ओरियन्टलीस्ट झूठी मान्यताओं को थोप कर हमें शिक्षित बनाया। इस कारण से हमारा स्वत्वबोध बिखरता गया। उपनिवेशवादी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति विभाजित व्यक्तित्व वाला ही बना रहता है। वह दूरस्थ काल्पनिक मोहों और आधुनिक विज्ञान के बीच विभाजित है। .....अत: हमारे शिक्षितों की भाषा अनुभवहीन, तेजहीन और औसत भाषा है। भाषा का यह मानकीकरण स्वत्व का

[38] समकालीन हिंदी कविता - ए. अरविन्दाक्षन, पृ.सं. 16

मानकीकरण है।..........आज का भारतीय 'सेल्फ' अगर संकटग्रस्त है तो उसका कारण स्वत्व विघटन है।"[39]

समकालीन हिंदी कविता की अगर कोई उपादेयता बनती है तो उस दर्शन, उस विचार की खोज के प्रयत्न के रूप में जो एक औसत भारतीय के स्वत्व की पुनर्रचना से संबंधित है। इसीलिए इतिहास-बोध अनिवार्य है, लोक से संबद्धता की जरूरत है। दलित एवं आदिवासी अस्मिता-बोध की कविताएं इस संदर्भ में पूरी समकालीन हिंदी के लिए सुयोग्य पथप्रदर्शक बन सकती है। बस आवश्यकता है तो पूर्वाग्रह मुक्ति की और कविता को पुनर्संस्कारित करने की।

*****

[39] समकालीन हिंदी कविता - ए. अरविन्दाक्षन, पृ.सं. 17

द्वितीय **अध्याय**

इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना का अवधारणात्मक स्वरूप

I. इतिहास-बोध

जब कोई रचनाकार किसी समय विशेष अर्थात् अपने वर्तमान में रचनाकर्म में प्रवृत्त होता है तो वस्तुत: वह अपनी पीठ की तरफ से बीते हुए समय और मुँह की तरफ से आने वाले समय के दबावों के बीच होता है अर्थात् भूत और भविष्य के दबावों के बीच। इसे रचनाकार पर दबाव कहें या उसका चुनाव कि वह अपने समय और रचना दोनों ही को समय की व्यापकता, अगाधता से विमुख नहीं कर सकता है। तब यह भी सत्य है कि उसका प्रयास मुख्यत: अपने वर्तमान अर्थात् समकाल का विभिन्न अर्थों में संयोजन करना ही होता है। रचनाकार और इतिहास के मुठभेड़ की जमीन यहीं निर्मित होती है, उसका इतिहास-बोध यहीं जन्म लेता है। "जो कवि इतिहास से होकर निरंतर यात्रा करते हैं वह मात्र अतीत की ओर ही गमन नहीं करते हैं। उनका मस्तिष्क अतीत की गह्वरताओं में भले ही गोता लगाता रहे फिर भी उनकी दूरदर्शी आँखें वर्तमान में टिकती हैं और फिर वर्तमान को भेदकर समय की आवश्यकताओं में आरचित होने योग्य भविष्य के शिलालेखों को भी गढ़ती हैं। इतिहास उनके लिए विस्मृत अवस्थाओं का यांत्रिक उत्खनन नहीं है बल्कि वह उनके लिए स्मृतियों का जीवंत नैरंतर्य है।"[40]

इस इतिहास बोध को मुख्य रूप से दो रूपों में समझा या देखा जा सकता है -

I. अतीत के उन प्रसंगों की खोज, पड़ताल जिसके माध्यम से वर्तमान की समझ को और स्पष्ट कर सके या कई बार वर्तमान की समस्याओं के स्रोत की तलाश कर सके और

[40] कविता का वर्तमान - ए. अरविंदाक्षन, संपा. डॉ. पी. रवि, पृ.सं. 21

उसके समाधान की जागरूकता यथासंभव पैदा कर सके या नई समकालीन चुनौतियों का सामना करने में ऐतिहासिक प्रसंगों का सदुपयोग कर सके।

II. वर्तमान के स्तर पर उन प्रसंगों, प्रश्नों, समस्याओं की पहचान, तलाश जिनमें भविष्य का इतिहास छुपा है अर्थात् जिनमें आगे जाकर इतिहास बन जाने की क्षमता है या जिनमें भविष्य के सरोकार छिपे हैं। वस्तुत: भविष्य का यह सरोकार रचनाकार का वर्तमान-सरोकार ही है क्योंकि वह अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है (अपनी रचना के माध्यम से) जो अपनी भावी पीढ़ी को अपना वर्तमान, अपनी उपलब्धि, अपना सर्वोत्तम सौंपना चाहता है। एक पिता की चिंता के प्रकार का अपने पुत्र के प्रति।

ई.एच. कार ने लिखा है - "इतिहास क्या है? जब हम इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करते हैं तब जाने अनजाने समय में अपनी अवस्थिति को प्रतिध्वनित करते हैं और हमारा उत्तर उस वृहत्तर प्रश्न का एक भाग होता है कि जिस समय में हम रहते हैं उसके बारे में क्या सोचते हैं?"[41] इसलिए ई.एच. कार मानते हैं कि महान इतिहास के लिए समकालीन दृष्टि का होना जरूरी है। उन्होंने लिखा भी है कि - "महान इतिहास तभी लिखा जाता है जब इतिहास की अतीत दृष्टि समकालीन समस्याओं की अंतर्दृष्टि द्वारा प्रकाशित हो उठती है।"[42]

इतिहास के लिए समकाल की यह आवश्यकता समकाल के लिए भी इतिहास की आवश्यकता को जन्म देता है। ज्ञान की सभी प्रणालियाँ आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग करती हैं। एक साहित्यकार का झुकाव इतिहास की ओर तब होने लगता है जब वह वर्तमान के दबावों की अभिव्यक्ति इतिहास में होता नहीं देखता है अर्थात् इतिहास की नई भिन्न व्याख्या या उपयोग में तथ्य अथवा व्याख्याओं का कम वरन् इतिहास में वर्तमानता का हस्तक्षेप अधिक होता है। यह प्रयास अतीतग्रस्तता से बिल्कुल भिन्न होता है। लाल बहादुर वर्मा ने

---

[41] इतिहास क्या है? - इ.एच. कार, पृ.सं. 2

[42] इतिहास क्या है? - इ.एच. कार, पृ.सं. 28

स्पष्ट किया है - "अतीतग्रस्तता व्यक्ति को रूढ़िवादी, पुरातनपंथी, संकीर्ण, हताश, आत्मतुष्ट और प्रतिक्रियावादी बनाती है। इतिहास-बोध व्यक्ति को मुक्त, भविष्योन्मुखी, उदार, समष्टिवादी और प्रगतिशील बनाता है।"[43] यही कारण है कि कोई रचनाकार जब सृजनशील होता है तो वह अपने आसपास की घटनाओं से विमुख नहीं हो पाता है। इतिहास-बोध शोषणपरक व्यवस्था का प्रतिरोधी होता है और इसी मानदंड पर अतीतग्रस्तता का विरोधी और विपरीत भी। क्योंकि वे लिखते हैं कि - "अतीतग्रस्तता समाज का शोषण करने वाले के पक्ष में खड़ी होती है। इतिहास-बोध उनके साथ है जो समाज को मेहनतकश के हक में बदल देना चाहते हैं, उसके लिए इतिहास का संकलन करना चाहते हैं। ......दोनों में मूलभूत अंतर है - विश्व-दर्शन का अंतर, जीवन मूल्यों का अंतर, जीवन-पद्धति का अंतर, सरोकारों का अंतर। अतीतग्रस्तता अतीत को ही नकार देती है। इतिहास-बोध इतिहास के अस्तित्व का कारण और उसका सार है।"[44]

उल्लेखनीय है कि तथ्य, घटना, कारण-कार्य संबंध, प्रमाण, वस्तुपरकता स्वयं में इतिहास दृष्टि के नियामक तत्व नहीं है फिर भी इसके माध्यम से वह पैटर्न अभिव्यक्ति पाता है जिसे समग्रत: इतिहास-दृष्टि कहा जाता है। उदाहरण के लिए जब कोई रचनाकार इतिहास का उपयोग करता है तब तथ्यों से विमुख होकर नहीं, सर्वथा उपेक्षा संभव भी नहीं है। वे अनिवार्यत: होंगे किन्तु किन तथ्यों, प्रसंगों, घटनाओं, विचारों का उसने चयन किया, किसे कितना महत्व दिया और किसे पार्श्व में डाल दिया, यह उसकी इतिहास-दृष्टि को निर्धारित करती है। तथ्यों के उपयोग की यह कला या दृष्टिकोण इतिहास और साहित्य में आधारभूत अंतर को उपस्थित करता है। इतिहास में जहाँ यथातथ्यता और वस्तुनिष्ठता की मांग अधिक होती है वहीं साहित्य कल्पना के माध्यम से घटनाओं की संवेदनात्मक प्रस्तुति

---

[43] इतिहास के बारे में - लालबहादुर वर्मा, पृ;सं. 42

[44] इतिहास के बारे में - लालबहादुर वर्मा, पृ;सं. 46-47

करता है। इसलिए इतिहास में जहाँ 'क्या है' का भाव प्रधान होता है वहीं साहित्य में 'क्या है' के साथ 'क्या होना चाहिए' यानि भविष्य की संकल्पना भी निहित होती है। इसलिए कोई रचनाकार जब साहित्य रचना में संलग्न होता है तो वह अपने युग की समीक्षा भी करता है। इस संदर्भ में देखें तो रचना के द्वारा भी इतिहास का निर्माण होता है। अशोक वाजपेयी ने लिखा है "साहित्य में अक्सर वह भी बचा रह पाता है जो इतिहास से या कम से कम इतिहास की प्रभुत्वशाली अवधारणा से छूट गया होता है।"[45]

इस रूप में साहित्य को बचे हुए या शेष के इतिहास या अनकहे के इतिहास के रूप में देख सकते हैं। नामवर सिंह ने समसामयिक इतिहास की दृष्टि से रचनाकार एवं उनके रचनात्मक प्रतिमानों को ज्यादा महत्व देते हुए साहित्य की समस्याओं को इतिहास की समस्याएं बताया है। 'इतिहास और आलोचना' में उन्होंने लिखा है - "वस्तुत: इतिहास लिखने का कार्य वही कर सकता है जो स्वयं बनाने में योग देता है अथवा दिलचस्पी रखता है। .....इस प्रकार जो समसामयिक इतिहास की समस्याओं से जूझ रहे हैं वे इतिहास न लिखते हुए भी इतिहास बनाने में योग दे रहे हैं। समसामयिक साहित्य के बारे में उठी हुई सारी समस्याएं इतिहास की समस्याएं हैं।"[46]

इस प्रकार वर्तमान से जुड़ाव समाज और साहित्य के इतिहास-बोध की पहली शर्त बन जाती है। एक रचनाकार अपने समय में उपस्थित रहकर प्रतिरोध की युक्तियों का निर्माण करता है। इस प्रकार से वह इतिहास के एक बने-बनाये फ्रेम का भी विरोध करता है। अशोक वाजपेयी इसकी व्याख्या करते हैं - "साहित्य को इतिहास के संदर्भ में पढ़ने का एक और तरीका है। यानी एक तो हम उसे तत्कालीन समाज की वास्तविकता के प्रतिबिंबन को देखने के लिए पढ़े, दूसरा इस तरह कि कैसे दोनों ही एक तरह की पूर्णता की आकांक्षा से परिचालित

[45] साहित्य और सामाजिक परिवर्तन - संपा. बद्रीनारायण, ए..आर. मिश्रा, पृ.सं. 69

[46] इतिहास और आलोचना - नामवर सिंह, पृ.सं. 155

हैं और किस हद तक वे उस पूर्णता के लिए पहुँचते हैं या नहीं पहुँचते, लेकिन तीसरा इस रूप में कि साहित्य एक विशेष अर्थ में हमेशा इतिहास के विरूद्ध होता है।"[47]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्य दृष्टि समय की ऐतिहासिकता की पहचान करता ही है, सृजनात्मक स्तर पर भी वह मूल्यों को परखता है। किसी भी रचना में अपने समय के विडम्बनाओं का चित्रण न हो तो रचना इतिहास-दृष्टि से संपृक्त हो ही नहीं सकती है। नित्यानंद तिवारी ने सही ही लिखा है कि - "इतिहास-दृष्टि साहित्यिक अनुभूति को जटिल संरचना मानती है जिसमें समाज अपनी सभी सक्रिय शक्तियों के साथ सजीव केन्द्र के रूप में विद्यमान रहता है। अर्थात् सौंदर्यात्मक संरचना और संगठन, समाज की आंतरिक गति, अंतर्विरोधों की टक्कर, उसके फलस्वरूप परिवर्तन और उसकी गति के पुनर्गठन का प्रतिरूप होता है। जो साहित्य इसकी गवाही नहीं देता ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें सजीव सौंदर्य नहीं होता है।"[48]

लेखक के रचना-समय का दबाव एवं स्वयं उसकी रुचि भी उसकी इतिहास-दृष्टि का निर्माण करती है। यहीं समकालीनता ऐतिहासिकता का अंग बनती है। इतिहास समकालीनता का प्रेरक होता है। साथ ही, उसी की प्रेरणा से नई संभावनाओं की खोज भी करता है। इसलिए उसकी सारी सीमाएं और संभावनाएं इतिहास में जाकर समाहित हो जाती है। मैनेजर पाण्डेय साहित्य को इतिहास से जोड़ते हुए लिखते हैं कि - "साहित्यिक रचनाएं इतिहास से निर्मित होती हैं और इतिहास का निर्माण भी करती हैं। रचना का अस्तित्व इतिहास के भीतर होता है, इतिहास के बाहर नहीं। ......ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य के अनुशीलन के लिए साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप और उसके सामाजिक परियोजना को जानना जरूरी है।"[49] स्पष्ट है कि ऐतिहासिकता से सम्बद्ध होने के कारण ही समकालीनता में अपनी युगीन विडम्बनाओं से

---

[47] साहित्य और सामाजिक परिवर्तन - संपा. बद्रीनारायण, ए.आर. मिश्रा, पृ.सं. 69

[48] आधुनिक साहित्य और इतिहास-बोध - नित्यानंद तिवारी, पृ.सं. 21

[49] साहित्य और इतिहास दृष्टि - मैनेजर पाण्डेय, पृ.सं. 7

संघर्ष की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यही कारण है कि जब कोई रचनाकार अपने युग के ऐतिहासिक प्रश्नों को उठाता है तो उसमें उसकी ऐतिहासिक दृष्टि भी व्यक्त होती है। इसलिए -

I. साहित्यिक रचनाएं भी इतिहास से निर्मित होती हैं और इतिहास का निर्माण भी करती हैं।
II. कलाकृतियों को समझने के लिए दृष्टि का ऐतिहासिक होना अनिवार्य है, तथा
III. साहित्य के सामाजिक परियोजना के बिना इतिहास-दृष्टि को नहीं समझा जा सकता है।

इतिहास तभी महत्वपूर्ण होता है जब वह केवल शासकों के युद्धों, जय-पराजयों के अतिरिक्त बहुआयामी होता है और समय को समग्रता में धारण करता है। तब वह एकरैखिक नहीं होता। इतिहास को देखने की सही दृष्टि उसके बीच वर्तमान की निरंतरता और वर्तमान के बीच इतिहास की निरंतरता को देखने में है। वह एक स्थिर विचार नहीं है, बल्कि समय-सापेक्ष परिवर्तनशीलता को धारण करता है। यही समय-सापेक्षता मानवीय संकटों और अनेक स्तरीकृत साम्राज्यवादी आशयों की पहचान को संभव बनाता है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि- "बहुत बड़ी और ऐतिहासिक घटनाओं के बावजूद यह एक अ-ऐतिहासिक समय है, शायद इसीलिए कि इसमें प्रतिरोध की शक्तियाँ अशक्त, असहाय और बिखरी हुई हैं।"[50]

उत्तर आधुनिकता के कारण आज इतिहास की अपेक्षा इतिहासों की बात की जा रही है और यह तर्क भी दिया जा रहा है कि इन इतिहासों को किसी एक विचारधारा, वृतांत या महावृतांत से बांधा नहीं जा सकता है। इसके प्रमाण उपनिवेशवादी व्यवस्था से मुक्त हुए अथवा तीसरी दुनिया के देशों में बहुतायत से मिलते हैं जहाँ क्षेत्रीय भिन्नता और जातीय एवं प्रजातीय भिन्नता बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। साथ ही शक्ति के केन्द्र भी राजनीतिक हाथों के साथ-साथ वैज्ञानिक आभिजात्य (सूचना और संचार के संदर्भ), निजी संगठनों, आर्थिक

[50] आलोचना (अप्रैल-जून, 2000) - राजेश जोशी, पृ.सं. 346

संस्थानों इत्यादि के हाथों में सिमटता जा रहा है। राजनीतिक स्तर पर भी केन्द्रीय व्यवस्था को तोड़कर क्षेत्रीय दलों का बहुत तेजी से विकास और प्रसार हो रहा है। फ्रांसीस फूकोयामा ने भी 'इतिहास के अंत' की घोषणा करते हुए बताया है कि- "बीसवीं सदी के अंत में मानवतावाद की नयी-नयी संभावनाएं इतिहास और ऐतिहासिकता के अंत का अनुभव है। अब सर्वसत्तावाद और विश्व स्तर पर किसी केन्द्रीय योजना का सिद्धांत स्वीकार्य नहीं हो सकता । उनका स्थान उदार प्रजातंत्र, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लोक स्वायत्तता लेकर रहेंगी और ले रही हैं। इसलिए इतिहास का अंत तो हो ही चुका है।"[51]

गहराई से विचार करने पर यह अंत वस्तुत: अब तक के पश्चिमी इतिहास के अंत से संबंधित है। उसे, जो विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर स्वयं को विश्व के इतिहास के रूप में प्रस्तुत कर रहा था, को अमान्य करने से संबंधित है। वस्तुत: इतिहास की भी एक ग्लोबल अवधारणा प्रस्तुत की जा रही थी। अब इतिहास की अवधारणा लोकल (स्थानीय) पर बल देती है। ग्लोबल बनाम लोकल का संघर्ष यहाँ भी स्पष्ट है। वास्तव में इतिहास का अंत नहीं हुआ है। बल्कि वह और भी जटिल रूप में सामने आया है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि अब इतिहास को किसी एक निश्चित बिन्दु पर स्वीकृत नहीं किया जा सकता है। भारत जैसे देश के संदर्भ में यह और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि भारतीय समाज का बड़ा और महत्वपूर्ण भाग अभी इतिहास निर्माण की मजबूत प्रक्रिया से गुजर रहा है जो अभी तक ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया और इतिहास दोनों ही जगह हाशिए पर धकेल दिया गया था। यह इतिहास की भव्यता और महावृतांतता को नष्ट करते हुए उसका पुर्नोत्पादन संभव करती है। इसीलिए भारत जैसे देश में इतिहास के अंत की बात को पूर्णत: स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वैसे भी अशोक वाजपेयी का मानना है कि -"अंत की जो घोषणाएं होती हैं, जैसे ईश्वर का अंत, इतिहास का अंत ये सब नाटकीय वक्तव्य हैं। इनसे एक बात के ऊपर ध्यान केन्द्रित होता है

[51] उत्तर आधुनिक स्वरूप और आयाम - डॉ. वैद्यनाथ सिंघल, पृ.सं. 71

लेकिन ये कोई अहम् तथ्य नहीं है। नीत्से ने कहा था कि ईश्वर मर गया है लेकिन इसके बावजूद पश्चिम में ऐसा बहुत सारा साहित्य है, जर्मनी में भी जहाँ नीत्से था, जो ईश्वर को मृत नहीं मानता।"[52]

इतिहास-बोध और साहित्य के अंतर्संबंध को समझने में 'नव-इतिहासवाद' की भी भूमिका है और महत्वपूर्ण है। नई समीक्षा ओर संरचनावाद समेत उन तमाम अवधारणाओं, विचारधाराओं के विरूद्ध जो केवल रूप, पाठ एवं भाषा तक सीमित थे एक प्रतिक्रिया हुई। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नव-इतिहासवाद अपना स्वरूप गढ़ता है। इसने साहित्य की मौलिकता एवं अंतर्वर्ती मूल्यों की धारणा को स्वीकार करते हुए साहित्य को संस्कृतिजन्य और संस्कृति का निर्माता दोनों माना। इसका कारण यह है कि साहित्य की उत्पत्ति संस्कृति या इतिहास से भले ही न होती हो लेकिन स्वयं साहित्यकार का मानस, समाज, इतिहास और संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होता है। गोपीचंद नारंग ने स्पष्ट किया है - "साहित्य और इतिहास के संबंध की जटिलता पर नए सिरे से विचार किया जाए। अर्थात् साहित्य की मौलिकता तथा अंतर्वर्ती मूल्यों की अवधारणा को जहाँ तक संभव हो सके स्वीकार किया जाए। क्योंकि साहित्य जहाँ संस्कृतिजन्य है वहीं साहित्य संस्कृति का निर्माण भी करता है।"[53]

इतिहासवाद जहाँ वस्तुगत प्रक्रिया और वस्तुगत सामाजिक संबंधों पर आधारित था वहीं नव-इतिहासवाद ने इस वस्तुगतता को व्यक्तिनिष्ठता में परिवर्तित किया। इसी प्रकार ऐतिहासिक कालखंड की परस्पर विरोधी एवं असंगत अभिवृत्तियों को समझने के लिए भी किसी एक सिद्धांत से कार्य लेना उचित नहीं है। नव-इतिहासवाद वस्तुत: उस प्रक्रिया का नाम है जिसके माध्यम से यह देखा और दिखाया जाता है कि किस प्रकार साहित्यिक पाठ न केवल अपने युग के तौर-तरीकों तथा आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं वरन् उनका निर्माण एवं

---

[52] मानदंड पत्रिका - अंक 6-7, पृ.सं. 137

[53] संरचनावाद, उत्तर संरचना एवं प्राच्य काव्य शास्त्र - गोपीचंद नारंग, पृ.सं. 413

उन्हें प्रभावित भी करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार समाज ऐकिक नहीं, साहित्य भी ऐकिक नहीं है। विजय कुमार भी प्रश्न करते हैं - "कविता महज एक सुन्दर और महान विचार से रची जाती है अथवा सर्जक और समाज के बीच रिश्ते को निरंतर जीवंत बनाये रखने से?"[54]

स्पष्टत: नव-इतिहासवाद ने इतिहास को, ऐतिहासिकता से ज्यादा समकालीनता से जोड़ा। वस्तुनिष्ठता के स्थान पर आत्मनिष्ठता को निर्णायक माना और प्रक्रिया के स्थान पर अस्मिता या निर्मित आंतरिकता को महत्व दिया। इसलिए नव-इतिहासवाद सभी तरह के वर्चस्व को तोड़ने की चेतना लेकर प्रकट हुआ। इसलिए मुख्य-धारा अर्थात् वर्चस्व की धारा का विरोध करने वाले सारे आंदोलन मसलन दलित चेतना, स्त्री चेतना, निम्नवर्गीय विमर्श, आदिवासी अस्मिता एवं गे-लेसवियन जैसे सिद्धांत नव-इतिहासवाद का हिस्सा हैं।

सबाल्टर्न इतिहास-दृष्टि भी अभी तक के पारंपरिक इतिहास-लेखन को नकारते हुए इतिहास-लेखन की नयी प्रविधियों को अपनाने की वकालत करता है। शाहिद अमीन एवं ज्ञानेन्द्र पाण्डेय ने 'निम्नवर्गीय प्रसंग' की प्रस्तावना में लिखा है कि - "हमारी कोशिश एक नए तरह का इतिहास रचने की थी और अब भी है। ऐसा इतिहास जो अभिजन के दायरे से बाहर जाकर निम्न वर्ग की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को भी परखे और उनके साथ-साथ इन (अभिजन एवं निम्नजन) की प्रक्रियाओं को दो अलग पटरियों पर न ढकेलकर इन दोनों के पारस्परिक संबंध, आश्रय एवं द्वंद्व के जोर पर हमारे उपनिवेशी काल की समझ को गतिशील करे।"[55] वस्तुत: सवाल्टर्नवादी विचार ने साहित्य एवं इतिहास दोनों को समाज के सभी वर्गों को लाभ दिलाने के विचार से अपनी इतिहास दृष्टि को बनाने का प्रयास किया है।

II. प्रतिरोधी-चेतना

[54] कविता की संगत - विजय कुमार, पृ.सं.

[55] निम्नवर्गीय प्रसंग (1) - संपा. शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, पृ.सं. 9

मानव सभ्यता के विकास का विश्लेषण मनुष्य की एक विशिष्ट प्रकृति की ओर संकेत करता है। यह एक प्रकार से ‘विरूद्धों का सामंजस्य’ की प्रकृति की है। चेतना के स्तर पर वह दो कार्य - स्वीकार अथवा अनुकरण और अस्वीकार अथवा प्रतिरोध, निरंतर और समानांतर रूप से करता चलता है। ये परस्पर विरोधी प्रकृति के कार्य अवश्य हैं किन्तु ये मनुष्य के अस्तित्व (जैविक और बौद्धिक) और विकास (जैविक और बौद्धिक) दोनों ही के लिए समान रूप से आवश्यक है। मनुष्य ने अपनी बौद्धिक क्षमता से इसे प्राप्त किया है और समझकर पीढ़ियों को हस्तांतरित करता रहा है। मनुष्य और प्रकृति के सहयोग का इतिहास यदि मौजूद है तो उनकी प्रतियोगिता का भी। कभी मनुष्य प्रकृति पर तो कभी प्रकृति मनुष्य पर हावी होती रही है। मानव की उपलब्धि इस बात में रही है कि उसने प्रकृति और अपनी आवश्यकता के बीच संतुलन बनाने का निरंतर प्रयत्न किया है। आधुनिक समय में वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति और मानव के लगातार भौतिक सुविधाजीवी बनते जाने ने उसके प्रयत्न पर प्रश्नचिह्न अवश्य लगा दिया है।

मानव अपनी विकास प्रक्रिया के क्रम में अनेक संस्थाओं का विकास करता रहा है। यह वस्तुत: ‘सहयोगात्मक अवधारणा’ की ओर संकेत करता है। जिसके माध्यम से मानव अपनी सीमित क्षमता में असीमित वृद्धि प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक इत्यादि संस्थाओं को इसी रूप में देखा जा सकता है। समय-समय पर संस्थाओं के विकास और पतन के साथ ही उन संस्थाओं के लिए सिद्धांत, नियम और मूल्य भी विकसित, परिवर्तित या समाप्त होते रहे हैं। इस अध्याय में मानव विशेष की जिस प्रतिरोधी चेतना की चर्चा अभीष्ट है वह वस्तुत: मानव की प्राकृतिक, स्वाभाविक, आंतरिक और परस्पर सांघातिक है। अर्थात् मानव अपनी चेतना के विकास के क्रम में और अपनी आवश्यकतानुरूप मूल्यों-मान्यताओं में संशोधन और परिवर्तन करता चलता है। नकारात्मक ध्वनि के बावजूद यह मानव प्रकृति के सकारात्मक पक्ष को उभारता है।

चाहे वह कृषि या व्यापारिक अर्थव्यवस्था से जुड़ी संयुक्त परिवार का स्वरूप हो या वर्तमान समय के एकल परिवार का स्वरूप, परिवार की सर्वप्रमुख जिम्मेदारी अपने सदस्यों को भावनात्मक और भौतिक सुरक्षा प्रदान करने का होता है। यह 'सामूहिक उत्तरदायित्व' की पहली सीढ़ी या आरंभ कहा जा सकता है। लेकिन अपनी विकास प्रक्रिया में यह उत्तरदायित्व दो कारणों से विवादित हो गया। पहला, यह कि संकीर्ण या सीमित विचार का कारण बन गया जो व्यापक सामाजिक चेतना के विरूद्ध होने लगा और दूसरा, इसमें पारिवारिक या सामाजिक उत्तरदायित्व और संबंधों के संजाल के कारण व्यक्ति-विशेष की पहचान या अस्मिता पर खतरा पैदा हो गया। अंततः व्यक्ति अपनी इकाई की ओर उन्मुख होकर अपनी अस्मिता के प्रति सचेत हो गया जो परिवार संबंधी स्थापित संकल्पना और मूल्यों का प्रतिगामी सिद्ध हुआ। वर्तमान समय में परिवार संरचना अनेक चुनौतियों से गुजर रही है और कई नवीन संकल्पनाओं ने उसका स्थान भी लेना शुरू कर दिया है।

जिस तरह से मध्य युग में मानव जीवन का केन्द्र 'धर्म' था उसी तरह वर्तमान आधुनिक मानव जीवन का केन्द्र 'अर्थ' है। अर्थ की महत्ता मानव जीवन में यद्यपि हमेशा से रही है, हमारे समकालीन समय में यह मुख्य निर्णायक, प्रेरक शक्ति है। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के क्रम में मानव ने 'विनिमय-प्रणाली' से लेकर वर्तमान आर्थिक उदारीकरण या निजीकरण तक की आर्थिक प्रक्रिया को अपनाया है। इस यात्रा क्रम में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन जो दृष्टिगोचर होता है वह है कि पहले मांग के अनुरूप 'उत्पादन' था जबकि अब उत्पादन के अनुरूप मांग को यानि आवश्यकता को पैदा किया जा रहा है। यानि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से नहीं इच्छाओं से संचालित होने लगा है। इस बदलाव ने मनुष्य के मूल-स्वभाव में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। यहाँ मूल-स्वभाव के रूप में 'सामूहिक उत्तरदायित्व' से लिया जा रहा है। जिसने अब तक मानव सभ्यता के विकास को वर्तमान स्थिति तक, जो चरम उपलब्धि का माना जा सकता है, लेकर आया है। परिवर्तन के

कारण सामूहिक उत्तरदायित्व का स्थान व्यक्तिगत लाभ ने ले लिया है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे अस्वाभाविक नहीं माना है क्योंकि उनके अनुसार पारिवारिक संरचना का संबंध आर्थिक क्रिया-व्यापार से है। जब कृषि-अर्थ-व्यवस्था थी तो परिवार सामान्यत: संयुक्त होते थे और साथ ही सामूहिकता की भावना अधिक थी जबकि बाद में नौकरी आधारित अर्थ-व्यवस्था ने श्रम में कमी लाकर समूह की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। साथ ही नौकरी ने प्रवास को जन्म दिया। इन कारणों से नाभिकीय या एकल परिवारों को जन्म दिया।

सीमित संबंध और सीमित उत्तरदायित्व ने व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खींचा जो स्वभावत: अनंत और उन्मुक्त सुख की लालसा में तिरोहित हो गया। प्रवास स्थायी आवास की जगह परिवर्तनशील आवास का कारण बना और इस क्रम में सामाजिक संरचना ही बदल गया। समाज तो रहा, लेकिन अपरिचितों से मिलकर बना हुआ। अपरिचित और भिन्न संस्कृति, भाषा, रहन-सहन, मान्यताओं ने एकाकीपन की स्थिति को पैदा किया और फलस्वरूप सामाजिक उत्तरदायित्व क्रमश: कम होता गया।

सामाजिक मूल्यों के प्रतिरोध से तात्पर्य उन मूल्यों के प्रतिरोध से है जो सामाजिक स्वीकृति प्राप्त तो हैं किन्तु जो व्यापक मानवीय हित और गहरे अर्थ में समाज विरोधी हैं। वस्तुत: सामाजिक मूल्यों के निर्माण के पीछे एक ऐतिहासिक सच यह रहा है कि समाज का एक अत्यंत अल्पसंख्यक लेकिन प्रभुत्वशाली वर्ग हमेशा समाज पर हावी रहा है। यह प्रभुत्व कभी जाति, कभी प्रजाति, तो कभी धर्म, तो कभी धन, तो कभी क्षेत्र, तो कभी लिंग इत्यादि के नाम पर स्थापित किए जाते रहे हैं। वस्तुत: इस वर्चस्व को स्थापित करने के पीछे प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार और अबाध उपयोग की मंशा थी। यह अधिकार और उपयोग संपूर्ण समाज के लिए एक समान रूप से करने की नहीं थी, बल्कि एक छोटे तबके के लिए थी। यह अधिकार स्थायी बना रहे और उपयोग निर्बाध रहे इसके लिए प्रभुत्वशाली वर्ग ने वर्ण, धर्म, धन इत्यादि के माध्यम से या उनकी आड़ में ऐसी सामाजिक मान्यताओं को जन्म

दिया जो उनके भौतिक हितों की स्थायी संरक्षक थी। विशेष बात यह थी कि इसे संपूर्ण समाज के लिए ग्राह्य बताते हुए इनके आचरण को अनिवार्य बना दिया गया है। उनके लिए भी जिनके विरूद्ध ये मान्यताएं थीं। धर्म और अर्थ के माध्यम से इन मान्यताओं के लिए तर्क जुटाए जाते रहे हैं। वर्ण, वर्ग और दोनों ही इसके प्रमाण हैं।

अर्थात इन सामाजिक मूल्यों के प्रतिरोध से तात्पर्य उन मूल्यों की स्थापना के प्रयास से है जिसके द्वारा किसी भी प्रकार के सामाजिक असमानता- जातिगत, लिंगगत, सम्प्रदायगत, धर्मगत, अर्थगत, संस्कृतिगत, क्षेत्रगत आदि की समाप्ति की जा सके और समाज की वास्तविक संकल्पना की स्थापना हो सके।

प्रतिरोधी-चेतना के संदर्भ में सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि प्रतिरोध क्यों और किसका? 'प्रतिरोधी-चेतना' से एक सकारात्मक ध्वनि का बोध होता है अर्थात् 'क्यों' और 'किसका' के उत्तर की खोज में कुछ सकारात्मक पहलू छिपे हुए हैं। प्रतिरोधी-चेतना विकास-प्रक्रिया के मूल में निहित हैं। यह पूरी सृष्टि अर्थात् प्रकृति की विकास-प्रक्रिया पर लागू होती है, मानव जिसका एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण अंग है। मानव-सभ्यता की विकास-प्रक्रिया का इतिहास बतलाता है कि वह सरल, एकरेखीय, निरापद, सुगम नहीं रहा है। अर्थात् विकास प्रक्रिया के क्रम में मानव-सभ्यता आज जहाँ पहुँची है वहाँ तक आने में कई ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनका सामना करना पड़ा है, जो मानव जाति और उसकी संस्कृति के लिए अहितकारी रही हैं। वस्तुत: यह कभी न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है अर्थात् विकास-क्रम के दौरान ऐसी स्थितियों का उत्पन्न होना, लेकिन साथ ही ऐसी स्थितियों के प्रतिरोध के प्रयास की भी निरंतरता भी बनी रहती है। वस्तुत: इस प्रतिरोध की आवश्यकता इसलिए बनी रहती है कि विकास-प्रक्रिया के दौरान नकारात्मक, विध्वंसकारी स्थितियों, विचारों, प्रक्रियाओं, भावनाओं आदि तमाम को नकार कर सकारात्मक सृजनशील और प्रगतिशील तत्वों से स्थानापन्न किया जा सके। अर्थात् प्रतिरोध की चेतना अस्तित्व और गति दोनों ही के लिए

मूलभूत शर्त है। इसीलिए विकास प्रक्रिया के समानांतर ही प्रतिरोध की प्रक्रिया भी निरंतर देखी जा सकती है। यहाँ एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रतिरोधी-चेतना के संदर्भ में विवेकसम्मतता की है जो प्रतिरोध चेतना के समान ही मूलभूत और इसीलिए अनिवार्य है। यही वह पक्ष है जो प्रतिरोधी चेतना को निरंतर सकारात्मक, प्रगतिशील और विकास सापेक्ष बनाये रखता है।

प्रतिरोधी-चेतना के इस मूल स्वभाव और आवश्यकता को स्पष्ट करने के बाद यदि इसे और अधिक ठोस और यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करें तो जहाँ तक समकालीन हिंदी कविता से संदर्भ जुड़ता है तो वह है भारतीय संदर्भ। भारत राष्ट्र या देश की पहली पहचान जो उभरकर आती है या अक्सर बतायी जाती है वह है विविधता या विरूद्धों के बीच सामंजस्य। इस सामंजस्य के बीच से बहुविध मानव समाजों और उनकी संस्कृतियों का इतिहास भी हजारों वर्षों में फैला मिलता है। आज इस इतिहास को लेकर दो दृष्टिकोण प्राय: मिलते हैं। प्रथम स्वर्णिम मानने का दृष्टिकोण तो दूसरा इसके विपरीत व्यापक जनसमूह से कटा हुआ या उनकी बेदखली पर लिखा इतिहास अर्थात् अवास्तविक, झूठा इतिहास। दूसरे नजरिये से पहले को देखने पर भारतीय इतिहास अल्पसंख्यक, प्रभुत्ववादी, शक्तिशाली वर्ग द्वारा बहुसंख्यक कमजोर साधारण आबादी के शोषण का इतिहास है जो निम्न वर्ग के लोगों के शोषण और तमाम विकास के लिए आवश्यक संसाधनों से बेदखली के साजिशों का इतिहास है। भारतीय संदर्भ में यह दृष्टिकोण विचार के केन्द्र में सर्वप्रथम इसलिए आता है क्योंकि समस्या के रूप में भारत आज भी उससे ग्रस्त है। इतिहास लिखने और उसे भविष्य के लिए सुरक्षित कर देने का काम समाज का वह वर्ग ही करता है जो सत्ता में होता है। भारत में सत्ता के जितने भी केन्द्र हो सकते हैं धर्मसत्ता, ज्ञानसत्ता, राजसत्ता, अर्थसत्ता, सामाजिक संस्थागत सत्ता आदि सभी पर समाज के अत्यंत अल्पसंख्यक उच्च वर्ण-वर्ग का एकाधिकार रहा है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार, सामाजिक सुधार आंदोलनों और तमाम अन्य कारणों से इस एकाधिकार को धीरे-धीरे बहुसंख्य आबादी के द्वारा चुनौती मिलने लगी और साथ ही

सत्ता में हिस्सेदारी की मांग क्रमश: बढ़ने लगी है और उनका अपना स्वयं का इतिहास, जिसे प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा नकारा जाता रहा है, क्रमश: केन्द्र में आने लगा है।

भारतीय इतिहास को देखने का एक दृष्टिकोण इसी से मिलता-जुलता लेकिन थोड़ा भिन्न रूप में है, जो गैर-उत्पादक वर्ग और उत्पादक वर्ग को केन्द्र में रखते हुए है। उत्पादक वर्ग समाज का बहुसंख्यक है और जिसका जीवन श्रम आधारित है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह मुख्यत: किसान वर्ग है। जबकि गैर-उत्पादक वर्ग अल्पसंख्यक है और जो मुख्यत: व्यवसाय या नौकरी पेशा से संबंधित है। लेकिन यह विडम्बना ही है कि प्राकृतिक संसाधनों आदि सभी पर अल्पसंख्यक गैर-उत्पादक वर्ग का एकाधिकार बना हुआ है। परिणामस्वरूप दोनों ही वर्गों के जीवन स्तर में विशाल अंतर दिखाई पड़ता है। एक वर्ग जहाँ उच्च जीवन स्तर के साथ उन तमाम बेहतर से बेहतर सुविधाओं का भोग कर रहा है जो आज उपलब्ध है, वहीं दूसरा वर्ग जीवन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्षरत है।

वर्तमान भारत को जिन समस्याओं ने जकड़ रखा है उनके स्रोत उपरोक्त विकास प्रक्रिया में निहित असंतुलन में है।

इस प्रकार इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना के पूरे प्रकरण को वास्तविक संदर्भों में देखने का प्रयत्न करें तो दो स्पष्ट ध्रुव दिखलायी पड़ते हैं। एक स्थापित और बहुत ही मजबूत सत्ता का तंत्र है और दूसरे ध्रुव पर जनता है। यह सत्ता का तंत्र राजनीतिक हो सकता है, पुरुष वर्चस्व का हो सकता है, जाति-प्रजातिगत वर्चस्व का या अर्थगत वर्चस्व का भी हो सकता है। धार्मिक बहुसंख्यकवाद का भी हो सकता है। आज के भूमंडलीकरण के समय में वह बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व हो सकता है या फिर साम्राज्यवादी देशों की वापसी और तानाशाही के रूप में हो सकता है। जनता प्रत्येक भिन्न संदर्भ में सभी प्रकार के वर्चस्व को सहने वाला भिन्न वर्ग है - कभी स्त्री, कभी दलित, कभी आदिवासी, कभी अल्पसंख्यक, कभी किसान, कभी श्रमिक, कभी निम्न मध्य वर्ग हो सकता है।

तो सत्ता और जनता के बीच जो बेहद तनाव का संबंध है वह इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना की केन्द्रीय विषय-वस्तु है। यहाँ इतिहास में ताँक-झाँक तो है, आवाजाही तो है, उससे आदान-प्रदान भी है लेकिन जीवन के समक्ष एक घोर वर्तमान उपस्थित है जो जीवन की सुंदरता, उसके उत्साह, उसके लालित्य, उसकी सरसता को नष्ट करने पर आमादा है। एक ऐसे संकट का समय है जो एकल या किसी क्षेत्र विशेष का नहीं है बल्कि सामूहिक है, जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक संदर्भ विपत्तिग्रस्त है इसलिए तो इसे 'सर्वग्रासी' कहा जा रहा है। विजय कुमार अपने एक लेख में इसे इस तरह संग्रहित करते हैं- "एक तरफ फासीवादी शक्तियाँ सांस्कृतिक अभिप्रायों के बहुआयामी परिवेश को घेर रही हैं दूसरी ओर उपभोगमूलक संस्कृति सामाजिक विभेदों को झुठलाती हुई एक स्मृतिविहीन समय को रच रही है। सामुदायिक चेतना के परम्परागत रूप और सरोकार, पारिवारिक अभ्यारण, संबंधों की पुरानी संस्थाएं, निजी अवकाश, स्मृति, स्वप्न और आकांक्षा -क्या आज कुछ भी विरूपित होने से बच पा रहा है? यह औसत मनुष्य का भौतिक परिवेश ही नहीं, उसके मनोजगत के भी विस्थापित होते जाने का समय है, संशय, घिराव, भय और असुरक्षा आज पश्चिमी आधुनिकता से आयातित शब्दावलियाँ नहीं है। ये हमारे बहुत तात्कालिक अंतरंग इलाकों की सच्चाइयाँ हैं।"[56]

समाज अत्यधिक विभाजित हो गया है। ऐसे सामाजिक परिवेश में एक आम व्यक्ति को कहीं ठौर नहीं मिल रहा है। यद्यपि हमारा समाज लोकतांत्रिक मान्यताओं और मूल्यों पर चलने वाला है किन्तु वास्तविकता यह है कि यह आज भी केवल वर्चस्ववादी समूहों के हित में कार्यरत है। भारतीय समाज की विडम्बना यह है कि ऐसे वर्चस्ववादी समूह पारंपरिक तौर पर पहले से मौजूद हैं ही, सन् 1990 के बाद बहुत तेजी से नये वर्चस्ववादी समूह अस्तित्व में आए हैं। दूसरी विडम्बना यह है कि ऐसे भिन्न समूहों के हितों में संघर्ष की स्थिति पैदा नहीं

[56] हर समय के समानांतर चलता है कोई और समय, आलोचना, अप्रैल-जून, 2000, पृ.सं. 251

होती बल्कि वह एक-दूसरे की हितपूर्ति करते हैं, हित-पोषण करते हैं, संरक्षण और प्रोत्साहन देते हैं। ऐसी स्थिति में उनका गठबंधन बहुत ही मजबूत है। इसका समाज पर बहुत ही नकारात्मक प्रभाव पड़ा है- "सामाजिक अंतरालों में मौजूद क्रूरताओं के नए रूप बन रहे हैं ......श्रम, पूंजी, भूमि और मुद्रा का लगातार संकुचन और केन्द्रीकरण हो रहा है, शक्ति के केन्द्रों से बाहर जी रहे लाखों-करोड़ों लोग अपनी जमीन, जलवायु, परिवेश और परम्परा से विस्थापित होते जा रहे हैं। लाचारियों और पीड़ाओं के अनसुने वृत्तांत हैं। थोड़े से लोग और बहुत सारे लोगों की अलग-अलग दुनियाएं बन रही हैं। सामाजिक ढाँचे में असंतोष, तनाव, घृणा, लालसाओं और हिंसा के नए संदर्भ हैं।"[57]

अब अगर समकालीन समय में प्रतिरोध की युक्तियों की तलाश वहाँ से नहीं हो सकता जहाँ ये शोषक शक्तियाँ मौजूद हैं तो वहाँ जाना होगा जहाँ प्रतिरोध की आवश्यकता है, जीवन की ऊर्जा अभी नि:शेष नहीं हुई है। उन समूहों के पास जाना होगा जो अधीन रहने को अभिशप्त होते हुए भी जिजीविषा और संजीवनी शक्ति से भरपूर है। समकालीन साहित्य विशेषकर कविता इस ऐतिहासिक अनिवार्यता को पहचानती है और इसीलिए वह बार-बार अधीन समूहों या कहें लोक के पास जाती है। मैनेजर पाण्डेय अपने एक लेख में ग्राम्शी के हवाले से बताते हैं- "ग्राम्शी के अनुसार लोकमत जड़ और गतिहीन नहीं होता। आम जनजीवन में व्याप्त दार्शनिक और वैज्ञानिक विचारों का उस पर प्रभाव भी पड़ता है। ग्राम्शी यह भी कहते हैं कि जिन्हें अधीनों की सच्ची चिंता है उन्हें ऐसे वर्गों के लोकमत पर ध्यान देना चाहिए; उनमें मौजूद गतिशील यथार्थपरक और अग्रगामी तत्वों को पहचानते हुए उनका विकास करना चाहिए, न कि बाहर से ज्ञान देकर उनको जागृत करने की कोशिश करनी चाहिए।"[58]

---

[57] हर समय के समानांतर चलता है कोई और समय, आलोचना, अप्रैल-जून, 2000, पृ.सं. 251

[58] भूमंडलीकृत भारत में अधीनों की स्थिति - मैनेजर पाण्डेय, बया, जनवरी-मार्च, 2012, पृ.सं. 8

ऐसी ही किसी इच्छित स्थिति में प्रतिरोध अपने वास्तविक निहितार्थ को प्राप्त कर सकता है।

*****

तृतीय अध्याय

इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना की पृष्ठभूमि
(समकालीन हिंदी कविता से पूर्व की हिंदी कविता का संदर्भ)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रसिद्ध कथन है - “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।”[59] कथन से स्पष्ट है कि किसी भी देश के साहित्य का संबंध, बल्कि प्रत्यक्ष संबंध, वहाँ की जनता अर्थात समाज से होता है जो कि प्रत्येक काल में परिवर्तित रूप में सामने आता है। तथ्य यह है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्बन है और यह भी कि चित्तवृत्ति में परिवर्तन होता चला जाता है। यहाँ एक और तथ्य स्पष्ट होता है कि चूँकि साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है और इसका कारण जनता की चित्तवृत्ति में होते रहने वाला परिवर्तन है, इसलिए साहित्य परिवर्तन और समय-सापेक्ष है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य स्वभावत: समसामयिक या समकालीन होने के लिए बाध्य है। ऐसा नहीं होने की स्थिति में वह सामाजिक परिवर्तनों को लक्षित कर पाने में समर्थ नहीं हो सकेगा और प्रतिबिम्बन यथार्थतता से कट जाएगा।

समकालीन हिंदी कविता तक की यात्रा में हिंदी कविता ने अपने स्वरूप में अनेक परिवर्तनों को आत्मसात किया है जो स्पष्टत: उन परिवर्तनों का ही प्रतिबिम्बन है जो एक समाज विशेष के बीच घटित होता आया है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास में हिंदी कविता की जीवंतता निरंतर बनी रही है। यहाँ इस प्रश्न की गुंजाइश अवश्य है कि हिंदी कविता ने परिवर्तनों को किस रूप में, किस मात्रा में, मानव-

---

[59] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 1

कल्याण और उसकी चिंताओं के अनुरूप अपेक्षनीय ढंग से धारण किया है अथवा नहीं किया है?

I. आदिकाल

हिंदी साहित्य का आरम्भ लगभग एक हजार वर्ष पहले से माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के प्रथम काल-खंड आदिकाल का आरम्भ संवत् 1050 से माना है।"[60] इस समय और इसके कुछ पूर्व के समय के अध्ययन के लिए बौद्ध धर्म और उसके प्रभाव का अध्ययन अपरिहार्य हो जाता है, क्योंकि "जिन दिनों हिंदी साहित्य का जन्म हो रहा था, उन दिनों बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े-बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे, जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन की विधाओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव फैलाते रहे।"[61]

बौद्ध-धर्म के उत्थान, प्रसार और पतन में राजनीतिक संरक्षण की बड़ी भूमिका रही है। इतिहास सिद्ध तथ्य है कि मौर्य वंश के शासक सम्राट अशोक ने न केवल इस धर्म में दीक्षा ली अपितु इसके विश्वव्यापी प्रसार में महती भूमिका निभायी। लेकिन यह स्थिति हमेशा नहीं रही। "वस्तुत: हर्ष के बाद उत्तर-भारत में बहुत दिनों तक बौद्ध धर्म को कोई राजकीय सहारा नहीं मिला। इसके कारण या तो बौद्ध संन्यासियों को उन स्थानों पर चला जाना पड़ा जहाँ उन्हें संरक्षण मिल सकता था, या निचले स्तर के लोगों को अधिकाधिक आकृष्ट करना पड़ा। आठवीं-नवीं शताब्दी में बौद्ध महायान संप्रदाय लोकाकर्षण के रास्ते बड़ी तेजी से बढ़ने लगा।"[62]

कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध-धर्म, विशेषकर महायान संप्रदाय का समाज के विशेष भाग पर अर्थात् निचले स्तर पर प्रभाव बना हुआ था। हीनयान की तुलना में महायान के अधिक प्रभाव जमने के पीछे उसकी निर्वाण संबंधी अवधारणा थी। महायान के अंतर्गत सभी

---

[60] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 1

[61] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 18

[62] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 18

के लिए अर्थात् आम लोगों के लिए, बिना जाँत-पाँत के भेद के, निर्वाण प्राप्ति संभव थी जबकि हीनयान के अंतर्गत निर्वाण संन्यासियों के लिए ही संभव थी। महायान संप्रदाय ने ऐसा सहज मार्ग प्रस्तुत किया जिसके माध्यम से बिना कुछ भी त्याग किए अपना सामान्य जीवन जीते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति निर्वाण का अधिकारी है। इसकी सहजता, मानवीयता और लोकगम्यता ने अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा।

निरंतर लोक की ओर उन्मुख होने और सभी को समाहित करने की दृष्टि से युक्त बौद्ध-धर्म के विपरीत ब्राह्मण-धर्म विशिष्ट वर्ग तक सीमित था। साथ ही यथार्थ-जीवन से उसका संबंध क्रमश: कटता जा रहा था। लेकिन कुछ ऐतिहासिक कारणों से ब्राह्मण धर्म को भी अपना विशिष्टत्व कुछ सीमा तक छोड़ना पड़ा। सामाजिक संरचना में तीव्र परिवर्तन घटित हो रहा था। कई विदेशी जातियों और कई स्थानीय जातियों का निरंतर प्रवेश ब्राह्मण-धर्म में होता जा रहा था। इस प्रवेश के साथ ही इन जातियों की अपनी कई मान्यतायों, व्यवहार-पद्धतियों इत्यादि का भी प्रवेश ब्राह्मण-धर्म में होता गया और अंतत: वह भी लोकमत से बहुत अधिक दूर नहीं रह सका - "ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के पंडितों को लोक-जीवन की ओर झुकने को बाध्य होना पड़ा।"[63]

आदिकालीन हिंदी साहित्य के अंतर्गत जो सिद्धों-नाथों को पूरा साहित्य है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ में 'साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र'[64] कहकर महत्व देने से मना किया है, उसका भारतीय समाज-व्यवस्था पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव समाज के उस हिस्से पर विशेष रूप से देखा जा सकता है जिसे किसी भी सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक भागीदारी का अधिकार नहीं था। समाज के इस बहुसंख्यक निचले तबके में इस साहित्य ने वह विश्वास भर दिया कि इसने तमाम स्थापित कर्मकांडीय

---

[63] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 24

[64] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 12

और भेदभाव पर आधारित समाज-व्यवस्था पर एक सिरे से आक्रमण कर दिया। इन्होंने अपनी बात सामने रखनी शुरू कर दी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं लिखा है - "नाथ संप्रदाय के सिद्धांतों, ग्रंथों में ईश्वरोपासना के बाह्यविधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है; वेद शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गये हैं -

1) योगशास्त्रं पठेनित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

2) न वेदो वेद इत्याहवैदा वेदो निगद्यते।

परमात्मा विद्यते येन स वेदोवेद उच्यते।"[65]

आगे उन्होंने लिखा है - "सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। अतः जाति पांति के खंडन वे आप ही थे। नाथ संप्रदाय भी जब फैला, तब उसमें जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान संपन्न न थे।"[66]

इन सिद्धों और नाथों का संबंध बौद्ध धर्म से था। "बौद्ध धर्म विकृत होकर ब्रजयान संप्रदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था ......चौरासी सिद्ध इन्हीं में हुए हैं।"[67] साथ ही, "गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही ब्रजयान शाखा है।"[68] बौद्ध धर्म का महत्व इसलिए रेखांकित करना अनिवार्य है क्योंकि इसने पहली बार स्थापित ब्राह्मण-धर्म के कर्मकांडों, वैदिक हिंसा, सामाजिक भेद-भाव पर प्रत्यक्षतः प्रहार किया है। बुद्ध की उक्ति है -

"न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

---

[65] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 10

[66] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 10-11

[67] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 5

[68] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 8

कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणों ।।"[69]

और सिद्ध सरह भी कहते हैं -

"पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि रूद्ध वसंतन जावइ।

अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्जइ भणइ हउँ पंडिआ।।"[70]

इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म का वह विकृत रूप जिसमें तमाम भेदभावों को स्थान दिया गया वस्तुत: भक्ति का उपादान न होकर वर्चस्व स्थापना का उपकरण था, जिसके माध्यम से सभी प्राकृतिक संसाधनों से लेकर सत्ता के सभी संभव रूपों पर समाज के छोटे वर्ग के प्रभुत्व को स्थापित किया गया। इस स्थापना के क्रम में और उसे दीर्घजीवी बनाने के लिए शोषण की ऐसी प्रक्रिया शुरू की गयी जिससे हमारा समाज आज भी मुक्त नहीं हो सका है। बुद्ध ने इस वर्चस्व-स्थापना की पूरी प्रक्रिया को पहचाना और उसे चुनौती देते हुए रूढ़ि पालन की जगह, विवेक को महत्व देने की बात कही - "बौद्ध-धर्म के 'विनय-पिटक' में अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है कि बुद्ध अपने भिक्षुओं से कहा करते थे कि किसी बात को केवल इसलिए नहीं मानो कि यह धर्म-ग्रंथों में लिखी है, परम्परा से चली आ रही है या फिर मैं (बुद्ध) ही कह रहा हूँ। पहले उसे अपने तर्क की कसौटी पर कसो, यदि वह सत्य की कसौटी पर खरी उतरती है, तभी उसे मानो, अन्यथा नहीं। बुद्ध की इस छोटी-सी उक्ति ने वर्ण-व्यवस्था और अन्य ईश्वरीय कहे जाने वाले विधानों के खिलाफ बहुत बड़ा काम किया।"[71]

इसी प्रेरणा ने हिंदी साहित्य के आरंभ में ही उसे वह चेतना दे दी जो उसे साहित्य होने की प्रथम शर्त पर खरा उतारती है - मानवता की रक्षा और उसकी हितपूर्ति। इस क्रम में व्यवधान उत्पन्न करने वाली तमाम व्यवस्थाओं के विरूद्ध आगे आकर स्वर देना एक ऐतिहासिक उत्तरदायित्व की पूर्ति है, जिसे आदिकालीन हिंदी साहित्य के अंतर्गत नाथों और

---

[69] विनय पिटक- संपा. राहुल सांकृत्यायन, पृ.सं.

[70] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 6

[71] बौद्ध धर्म तथा वर्ण व्यवस्था- डॉ. तुलसीराम, हंस, अगस्त 2004, पृ.सं. 58

सिद्धों ने पूरा किया है। “सिद्ध-नाथों की इस पंरपरा ने दलित और स्त्रियों के लिए जितना कुछ किया, उतना किसी ने नहीं। धार्मिक कर्मकांड, अंधविश्वास और रूढ़ियों का विरोध करके इन सिद्ध-संतों ने मानवीय समानता की जो उच्च भूमि तैयार की, उसी पर बाद में कबीर आदि संतों के समानतावादी दर्शन खड़े हुए। इसी परंपरा ने स्त्री और दलितों की मुक्ति के दरवाजे खोले।”[72]

प्रतिरोध के इस स्वर के पीछे एक पूरे वर्ग; जिसे समाज में हाशिए पर रख छोड़ा गया था, का अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति चिंता और उसमें परिवर्तन की आकांक्षा थी। इसके लिए शोषक व्यवस्था और शोषक व्यक्तियों का प्रतिरोध आवश्यक था और जिसमें साहित्य एक आवश्यक उपकरण साबित हुआ। “साहित्य के क्षेत्र में सिद्धों ने चर्यापद और दोहे जैसे छंद दिये जिनमें वैदिक आचारों के खंडन-मंडन और ब्राह्मणी विचारधारा का विरोध मिलता है। दोहा कोशों के माध्यम से सिद्धों ने समाज में प्रचलित रूढ़ियों; बाह्य विधानों और ब्राह्मणवादी आडम्बरों का खंडन किया है एवं चर्यापदों के माध्यम से जनमानस को प्रबोधित करते हुए अपने उपदेश दिये हैं।”[73]

II. भक्तिकाल

आदिकालीन साहित्य की इस मानवतावादी प्रवृत्ति और परंपरा ने हिंदी साहित्य के अंतर्गत भक्तिकाल के रूप में सर्वाधिक प्रखर और लोकवादी साहित्यिक परंपरा को प्राप्त किया। यह प्रखरता कई बार इतनी अधिक दिखलायी पड़ती है कि कवि और समाज सुधारक में भेद करना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि रामविलास शर्मा और बच्चन सिंह ने भक्तिकाल को भारत का पहला ‘नवजागरण’ कहा है। “यह पहला भारतीय नवजागरण था जो

[72] दलित साहित्य का समाजशास्त्र - हरिनारायण ठाकुर, पृ.सं. 206

[73] दलित साहित्य का समाजशास्त्र - हरिनारायण ठाकुर, पृ.सं. 206-207

कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से असम तक फैला हुआ था।"[74] डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल को 'लोकजागरण काल' कहा है। लेकिन साथ ही कुछ और तथ्य भी प्रस्तुत करते हैं -"लोकजागरण का काव्य और भक्ति-काव्य एक दूसरे का पर्याय नहीं है। सामंती-रूढ़ियों से मुक्त सारा साहित्य लोकजागरण काव्य के अंतर्गत आता है।"[75] अर्थात् लोकजागरण से तात्पर्य सामंती-मूल्यों से मुक्ति है। सगुण भक्तिधारा पर सामंती-मूल्यों का पोषक होने का आरोप लगता रहा है। लेकिन पूरी निर्गुण काव्य परंपरा का प्रतिरोध सामंती-मूल्यों से ही था। जबकि कुछ अन्य संतुलित दृष्टिकोण के अनुसार "पूरा का पूरा भक्ति आंदोलन साम्प्रदायिकता और वर्ण-व्यवस्था का विरोधी है। इसकी मूल चेतना उस सामान्य मनुष्य की पक्षधर है, जो ब्राह्मणवाद के संरक्षक सामंतों और इस्लाम के कट्टर मुल्ला-मौलवियों द्वारा समान रूप से शोषित और पीड़ित है। भक्ति-आंदोलन के परस्पर विरोधी से लगने वाले दोनों खेमों को यदि गौर से देखें तो पायेंगे कि एक (सगुण) का विरोध परंपरागत उदारता की सीमा है में तो दूसरा (निर्गुण) पूर्णत: क्रांतिकारी है। परिवर्तन दोनों चाहते हैं, मुक्ति की छटपटाहट दोनों में है; किन्तु एक की मुक्ति-चेतना व्यवस्था में सुधार देखना चाहती है जबकि दूसरा आमूल-चूल परिवर्तन कर नयी व्यवस्था गढ़ना चाहता है।"[76]

भक्ति-काव्य के अंतर्गत संतकाव्य ने जिस सामाजिक चेतना का परिचय दिया वह पूरे हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। जाति, वर्ण, कुल आदि की भेदपरक व्यवस्था का विरोध जिस स्वर और तार्किकता के साथ किया गया वह मध्ययुगीनता का अतिक्रमण कर आधुनिकता की आहट देता है। मानव-मानव की परस्पर समानता की प्रस्तावना संत-काव्य करता है। ये मूल्य बाद के पूरे हिंदी साहित्य और चिंतन से कभी नजरअंदाज नहीं किए जा सके। धार्मिक अनाचारों, कर्मकांडों से मुक्ति की बात कर धर्म के वास्तविक स्वरूप की

---

[74] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास -डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 75

[75] हिंदी जाति का इतिहास- रामविलास शर्मा, पृ.सं. 123

[76] दलित साहित्य का समाजशास्त्र - हरिनारायण ठाकुर, पृ.सं. 243-244

स्थापना का भी महत्वपर्ण कार्य इसके द्वारा हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसके महत्व को इस रूप में स्पष्ट किया है- "इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ-पंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया।"[77]

सूफी काव्य की दो बड़ी ऐतिहासिक देन रही है। पहली मानवीय प्रेम की ईश्वरीय प्रेम के समानांतर प्रतिष्ठा और दूसरी सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात। सूफियों के यहाँ आध्यात्मिक साधना का जरिया मानवीय प्रेम ही है - 'मानुष प्रेम भये वैकुण्ठी'। यही मानवीय प्रेम वह मार्ग भी संभव करता है जो अंततः सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय की मंजिल तक ले जाता है -"कबीर ने अपनी झाड़ फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों के कट्टरपन को दूर करने का जो प्रयास किया वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। ...... कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।"[78]

---

[77] हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 36

[78] हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 55-56

इसी अर्थ में रामकाव्य धारा भी अपने महत्व को प्रतिस्थापित करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा है - "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।"[79]

राम भक्तिकाव्य के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास का संपूर्ण रचना कर्म समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक-शास्त्र, गार्हस्थ्य-वैराग, भक्ति-ज्ञान, निर्गुण-सगुण इत्यादि अनेक द्वंद्वों का समन्वय उनके यहाँ मिलता है।

कृष्ण-काव्य 'गोचारण-संस्कृति' का काव्य है और इसकी सबसे बड़ी देन मध्य-युग के भीतर होते हुए भी सामंती जीवन-मूल्यों से मुठभेड़ है। सूर की गोपियाँ इसकी सबसे बड़ी प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त गार्हस्थिक प्रसंगों विशेषकर वात्सल्य-प्रेम का वर्णन कृष्ण-काव्य को आधुनिक आयाम और प्रासंगिकता से युक्त करता है क्योंकि वर्तमान जीवन पारिवारिक त्रासदी का समय है जहाँ पारिवारिक-आत्मीय संबंधों की महत्ता अब न के बराबर है जिसका सर्वाधिक दुष्प्रभाव बच्चों पर पड़ा है।

समग्रत: सामाजिक समरसता, लोकमंगल की चेतना, समन्वयवादी-दृष्टि, मनुष्य एकता की प्रस्तावना, सामंती-मूल्यों का प्रतिरोध, वर्णाश्रम-व्यवस्था और धार्मिक कर्मकांडों को चुनौती, प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन, आत्मसंयम और सदाचार पर बल, गार्हस्थिक संबंधों की महत्ता, लोकभाषा का चुनाव कई प्रसंग ऐसे हैं जो भक्ति-काव्य को समय के बंधन से मुक्त कर सार्वकालिक महत्व और प्रासंगिकता को बनाते हैं। क्या आत्मसंयम से उपजा आवश्यकता भर की यह मांग-

'साई इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय'

समकालीन बाजारवादी उपभोक्तावाद का प्रतिरोध नहीं है?

---

[79] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 98

III. रीतिकाल

हिंदी साहित्य के अंतर्गत रीतिकालीन काव्य पर सर्वाधिक आरोप लगते रहे हैं। सबसे बड़ा आरोप उसके सामंती मूल्यों का पोषक होने का रहा है। इस क्रम में उसने विलासिता और श्रृंगारिकता को साहित्य के केन्द्र में ला दिया और जीवन के अन्य अधिक सृजनात्मक उपांगों से उसे काट दिया। अपने पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य, जिसे 'लोक-जागरण' का काव्य माना गया और जिसने मानवीयता की चिंता को सर्वाधिक महत्व दिया के उलट रीति-काव्य ने सीमित विषय के अंतर्गत समाज और इतिहास दोनों की चिंता को नकार दिया। "मोटे तौर से 1650 से 1857 का समय जिसको शुक्ल जी ने विक्रम संवत में परिभाषित किया है - 1700 - 1900 तक रीतिकाल का समय है। आप जानते हैं प्लासी की पहली लड़ाई 1757 में हुआ और थोड़े दिन पहले 1739-40 में नादिरशाह का हमला हुआ था जो इतिहास के क्रूरतम हमलों में से एक है। लेकिन सबसे क्रूर घटना भारत में अंग्रेजी राज का कायम होना था। क्योंकि नादिरशाह लूटपाट करके चला गया था लेकिन अंग्रेजी राज ने 200 साल तक लूटपाट की, कत्लेआम की, तबाह किया और उससे अकाल, भूखमरी और न जाने कितने समस्याएँ आई। कल्पना करें सिर्फ 1857 में एक करोड़ लोगों को फांसी दी गयी थी। .....रीति साहित्य और उसका पूरा युग ऐसे समय में चल रहा है जब भारत की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिवर्तन बड़े उथल-पुथल से चल रही थी। ये विचार करने की चीज है कि किसी रीति कवि की रचनाओं में इन समस्याओं का जिक्र तक नहीं है। ......दूसरे शब्दों में कहूँ तो रीतिकाल के उत्कर्ष के बाद वाले जो 100 साल हैं मतलब 1757-1857 तक ये भारतवर्ष की पराधीनता के प्रारंभिक 100 साल भी हैं। पूरे राष्ट्र की इस नियति को रीति साहित्य ने कहीं नहीं दर्ज किया।"[80]

---

[80] रीतिकाल की आधुनिकता-प्रो. अजय तिवारी, सामयिक मीमांसा, अंक 1, अप्रैल-जून 2008, पृ.सं. 12

ये सत्य है कि इन आरोपों से रीति-काव्य को बरी नहीं किया जा सकता है। रस, छंद, अलंकार आदि की गुत्थियों में उलझा हुआ यह साहित्य राजाओं की तुष्टि के लिए दरबारों के मध्य लिखा गया। विलासिता के बीच विलासिता की तुष्टि के लिए लिखा जा रहा यह पूरा साहित्य राष्ट्र और उसकी आम जनता के समक्ष अपराधी है। समाज के लिए प्रेरणा बनने की बात तो दूर उसने तो तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों के अंकन से भी कोई नाता नहीं रखा। "अंतिम महत्वपूर्ण कवि पद्माकर 1833 में दिवंगत हुए। इसी समय बंगाल में आधुनिक नवजागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय भी 1833 में दिवंगत हुए। दोनों समकालीन थे। ये बड़ा ऐतिहासिक संयोग है .... राजाराम मोहन राय भारत की आर्थिक लूट, समाज में फैले रूढ़िवाद और कुप्रथाओं की तमाम सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समस्याओं को संबोधित कर रहे थे। इसलिए जो अपने समय की ज्वलंत समस्याओं को उठा रहे थे भविष्य का समय उन्हें अपने लिए प्रासंगिक मानता है और जो उन समस्याओं से आँख चुरा रहे थे भविष्य का समय उन्हें अपने लिए अप्रासंगिक मानता है।"[81]

तो क्या संपूर्ण रीतिकालीन साहित्य को अप्रासंगिक, सामंती मूल्यों का पोषक और प्रतिक्रियावादी कहकर भूला दिया जाना चाहिए। लेकिन तब इसी के अंतर्गत आने वाले रीतिमुक्त साहित्य का क्या होगा जिसे अनुभव से उपजा साहित्य कहा गया है, जो स्वयं में रीतिबद्धता के विरोध का साहित्य है, जिसने साहित्य को कृत्रिमता और उहात्मकता से निकालकर स्वाभाविकता की राह पर लाने का प्रयत्न किया या फिर भूषण के साथ न्याय कैसे होगा क्योंकि "समूचे रीतिकाल में भूषण का व्यक्तित्व सबसे अलग और विशिष्ट है। इस काल में वीर रस की कविताएँ तो अन्य लोगों ने भी लिखीं पर श्रृंगार या नायिका-भेद का मुख वीररस की ओर मोड़ने का श्रेय भूषण को है। जब हिंदी काव्य नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन में लगा हुआ था, भूषण ने इतिहास की उस प्राणवान धारा को पहचाना जो औरंगजेबी

---

[81] रीतिकाल की आधुनिकता- प्रो. अजय तिवारी, सामयिक मीमांसा, अंक 1, अप्रैल-जून 2008, पृ.सं. 12

अत्याचार के विरूद्ध बह रही थी। ....भूषण ने अपनी रचनाओं में शिवाजी का प्रशस्तिगान कर अत्याचार-विरोधी धारा को थोड़ा और गतिशील बना दिया।.....भूषण की प्रशस्तियाँ जातीय जीवन की पक्षधर और अत्याचार के विरूद्ध सक्रिय थी।"[82]

रीतिकाल के पूर्ववर्ती भक्तिकाल में जिस साहित्य की रचना हुई उसके केन्द्र में 'भक्ति' थी, भले ही उसके कई रूप थे। यानि की मनुष्य जीवन की चिंताओं और समस्याओं का हल ईश्वर के द्वारा ही संभव था। सगुण भक्ति-धारा ने तो इसकी 'अवतारवाद' के माध्यम से सीधी सीधी वकालत की है। निर्गुण भक्ति-धारा ने भी अलग रूप में ईश्वर का ही सहारा लिया। अपनी तमाम प्रखरता और प्रगतिशीलता के बावजूद संत-काव्य और सूफी-काव्य ईश्वरीय आराधना का ही काव्य है। हाँ, यह अवश्य हुआ कि इस ईश्वरीय आराधना में जो भी बाधक तत्व थे या जिनके नाम पर समाज में कुछ लोग वर्चस्व स्थापना की कोशिश कर रहे थे या सम्प्रदायों का हित आराधना से ऊपर मान रहे थे, उसके विरूद्ध इन्होंने सर्वसुलभ भेदभाव रहित, कर्मकांड रहित भक्ति की प्रस्तावना की। उनके प्रश्न बहुत आवश्यक, तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक थे किन्तु समाधान के स्तर पर वे कहीं न कहीं अपने समय से बंधे हुए थे और धर्म, आध्यात्म, ईश्वर से मुक्त नहीं हो पाये। इसीलिए आगे के वर्षों में उनके ही नाम और अनुसरण पर उनके संप्रदायों और मठों की स्थापना हो गयी और समाज नये सिरे से धार्मिक आडम्बरों का शिकार हो गया।

लेकिन काव्य-सृजन की ऐसी भी परम्पराएँ रही हैं जिनका उद्देश्य भिन्न रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है - "सन् ईसवी के बाद एक तीसरी वस्तु का अचानक आविर्भाव होता है। यह अध्यात्मवादी या मोक्षकामी रचनाएँ भी नहीं हैं और कर्मकांडवादी या स्वर्गकामी भी नहीं हैं। इनमें ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। ये

[82] आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 197

उस जाति की रचनाएँ हैं, जिसे अंग्रेजी में 'सेक्यूलर' कविता कहते हैं।"[83] उन्होंने प्राकृत और संस्कृत में ऐसी रचनाओं के अस्तित्व में आने से पहले भी उसकी परंपरा की ओर संकेत किया है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, बौद्धों की थेर गाथा ओर थेरी गाथाओं में ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं। तात्पर्य यह है कि प्राचीन और मध्य-काल में धर्म की केन्द्रियता के बावजूद मानव मन कई बार आध्यात्मिकता और लोकोत्तरता से हटकर अपने जीवन के सुख-दु:खों को सीधे-सीधे व्यक्त करता रहा है। द्विवेदी जी ने इस प्रकार की कविता का सबसे पुराना संग्रह 'हाल' की सतसई को माना है -"इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। प्रत्येक पद्‌य अपने-आप में स्वतंत्र और आमुष्मिकता की चिंता से एकदम मुक्त है। ......हाल की सतसई में जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ ऐसा निकट संबंध पाया जाता है ....प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिका की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात-प्रतिघात अहीर और अहीरिनों की प्रेम गाथाएँ, ग्राम-वधूरियों की श्रृंगार चेष्टाएँ चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुंदरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें .....यहाँ वह अभिनव जगत में पदार्पण करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं है, कुश और वेदिका का नाम नहीं सुनाई देता, स्वर्ग और उपवर्ग की परवाह नहीं की जाती।"[84]

आचार्य द्विवेदी ने माना है कि "बिहारी लाल की सतसई भी इस ग्रंथ से प्रभावित है जो सुकुमारता में अतुलनीय है। सैकड़ों वर्षों से वह रसिकों का हिमहार बनी हुई है और जब तक सहृदयता जीती रहेगी तब तक बनी रहेगी।"[85] रीतिकाल में एक बड़ा परिवर्तन आरंभ में ही घोषित कर दिया जाता है, अपनी प्राथमिकता बता दी जाती है, जिसके तहत कविता का लक्ष्य भक्ति नहीं होकर सहृदय या सुकवि अर्थात् श्रोता है। उस पर पड़ने वाले प्रभाव पर ही उसका ध्यान था-

---

[83] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 105
[84] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 106
[85] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 106

“रीझि हैं सुकवि जोतो जानौ कविताई

न तो राधिका गुविंद सुरिरन को बहानौ है।”[86]

यानि कि रीतिकालीन-काव्य का विवेचन अगर थोड़ा पूर्वाग्रह मुक्त होकर और खुले मन से किया जाए तो उसकी कुछ विशिष्टताएँ सामने आती हैं जो उसे आधुनिकता के करीब ठहराती है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम जिस विशेषता को रेखांकित करने की आवश्यकता है वह है - ऐहिकता। भक्तिकाल की दृष्टि मनुष्य के हित से। यह पलायन भर नहीं हो सकता बल्कि कई अर्थों में आगे का कदम प्रमाणित किया जा सकता है। जागतिक गतिविधियाँ रचना के केन्द्र में आ गयी। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक ‘हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास’ में लिखा है - “रीतिकाल में कविता अधिकांशत: धर्म से विलग होकर ऐहिक रूप में विकसित होती है। रीतिकालीन कवि के लिए धर्म और दर्शन की प्रेरणा सार्थक नहीं रह गयी और एक माने में वह अधिक मानवीय कविता का स्रष्टा है, जिसका रूप आधुनिक काल में आकर खुलता है। यों रीतिकाल एक आवश्यक कड़ी है, भक्तिकाल और आधुनिक काल के बीच।”[87]

डॉ. नगेन्द्र ने भी रीतिकाव्य पर विचार करते हुए इसका स्वरूप सर्वत्र ‘गार्हस्थिक’ माना है। राजाश्रय में रचना करने के बावजूद अधिकांश कवियों ने कविता का विषय सामान्य गर्हस्थ घरों से लिया। वीर-गाथा काव्य में भी श्रृंगार का ही अधिकांश वर्णन था लेकिन उसके चरित्र राजवर्ग के थे जबकि रीतिकालीन काव्य के चरित्र सामान्य वर्ग के। प्रबंध और मुक्तक के चरित्र में अंतर भी इससे स्पष्ट किया जा सकता है। पद्माकर ने यदि अपने काव्य में फागोत्सव को महत्व दिया है तो वस्तुत: सामान्य लोक में उसके महत्व को परख कर ही। ऋतुओं और त्यौहारों के बीच लोक का जीवन साँसें लेता है।

---

[86] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 113

[87] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास- रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 57-58

इसके अतिरिक्त देव जैसे कवि भी हैं जो कभी-कभी निर्गुण भक्त कवियों सी आवाज में जाति-पाँति, ऊँच-नीच के भेदभाव का विरोध करते हैं -

"है उपजे रज बीजहि ते, बिनसे तू सवै छिति छार के छाँडे।

एक ऐ देखु कछू न बिसेखु ज्यों एकै उन्हार कुन्हार के भाँडे।।

तापर ऊँच औ नीच विचारि बृथा बाकिवाद बढ़ावत चाँड़े।

बेदन मूँद कियो इन दुंदुकि सूद अपावन, पावन पाँड़े।।"[88]

निस्संदेह रीतिकाल का अधिकांश इसलिए त्याज्य ठहराया जा सकता है कि वह सामंती-मूल्यों का पोषक है, विलासिता का काव्य है, दरबारी चाटुकारिता से भरा हुआ है, लक्षण-ग्रंथ बनाना केवल उद्देश्य था, समाज और इतिहास की गतिविधियों से कटा हुआ था, इसमें प्रगतिशीलता का अभाव था इत्यादि। "फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रीतिकाल का कवि केवल नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र की रटंत विद्या का जानकार था। यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीति-काल में लक्षण-ग्रंथों की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन लोक-भाषा के साहित्य का ही विकास था, जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष काल में जबकि शास्त्र चिंता लोक-चिंता का रूप धारण करने लगी थी; वह पुरानी लौकिकता परक लोक-काव्य धारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते-देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बंद नहीं कर दिया।"[89]

IV. आधुनिक काल

मनुष्य की चेतना में परिवर्तन घटित होने या प्रत्यक्ष संबंध उन परिवर्तनों से संबंधित होता है जो उसके समाज के स्तर पर घटित होता है। यहाँ समाज का व्यापक अर्थ है जिसमें

---

[88] आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 205

[89] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 115

एक परिवेश विशेष की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ परिवर्तित होती हैं। इन परिवर्तनों का साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है और प्रत्येक सचेत रचनाकार इनका अंकन साहित्य के माध्यम से सूक्ष्म रूप में अर्थात सांकेतिक रूप में करता है।

आधुनिक काल मध्यकालीन धर्म और ईश्वर की केन्द्रीयता को खंडित करता है और अपनी चिंता की परिधि में मनुष्य और उसके जीवन को लेकर आता है। लोकोत्तर के प्रति समर्पित मनुष्य जीवन को आधुनिकता उसके अपने वास्तविक संदर्भों में देखने का प्रयत्न करती है। इस बात की स्थापना करती है कि मानवीय जीवन के उसके अपने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक संदर्भों के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। चिंतन की तार्किकता और वैज्ञानिकता की प्रस्तावना आधुनिकता का लक्षण है। इसी सोच के अंतर्गत जागतिक जीवन और उसकी समस्याओं पर विचार आरंभ हुआ। वर्तमान जीवन को बेहतर बनाने की चिंता की केन्द्रीयता स्थापित हुई। मैथिलीशरण गुप्त इसीलिए लिखते हैं कि - 'संदेश यहाँ पर नहीं स्वर्ग का लाया, धरती को ही स्वर्ग बनाने आया।' वर्तमान जीवन और उसके परिवेश की यह चिंता उस मध्यकालीन मोक्ष की अवधारणा को खंडित कर देती है जिसने मानव जीवन और उसकी चिंतन-शक्ति को बंधक बना रखा था। इस बंधन से मुक्ति मिलते ही जीवन का यथार्थ सामने आ गया और इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रसंगों की ध्यान दिया जाए जो हमारे जीवन की नियति को वास्तविक रूप में निर्धारित करते हैं।

जीवन के यथार्थ के बोध होते ही एक नयी प्रकार की पराधीनता का बोध भी उभरा जो सामाजिक-आर्थिक संबंधों के आधार पर स्थापित किया गया था। समाज की गतिशीलता के लिए आर्थिक गतिविधियाँ अत्यंत आवश्यक हैं। राजनीतिक आदि अन्य सभी गतिविधियों के मूल में आर्थिक गतिविधि ही है। इसलिए आधुनिक काल में आर्थिक संरचना और आर्थिक संबंधों को समझने पर विशेष बल दिया गया। कार्ल मार्क्स इसीलिए उत्पादन संबंधों की चर्चा

करते हैं, क्योंकि उत्पादन संबंधों के आधार पर ही आर्थिक संरचना तैयार होती है। सामंतवादी आर्थिक संरचना और पूंजीवादी आर्थिक संरचना के अंतर को इसी आधार पर समझा जा सकता है। एक मुख्य रूप से मानवीय श्रम पर आधारित है तो दूसरा मशीनी गुणवत्ता पर।

इस प्रकार, आधुनिक मनुष्य और उसके समाज को समझना है तो उसके राजनीतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य और संदर्भों को विशेष रूप से समझना होगा क्योंकि उसके जीवन का यथार्थ इन्हीं से तय होता है।

"एस.सी. सरकार के अनुसार सन् 1757 में बंगाल में आधुनिक काल का उदय और मध्यकाल का अंत होता है। इसी वर्ष प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय और बंगाल के नवाब की पराजय होती है। ....सन् 1856 में अवध भी अंग्रेजी राज्य का अंग बन गया। सन् 1857 में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का बिगुल बजा। हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र - विशेषत: उत्तरप्रदेश में इसी वर्ष से आधुनिक काल का समारंभ माना जाता है यानि बंगाल के आधुनिक से सौ वर्ष बाद।"[90]

अर्थात भारत में आधुनिकता के आने का संबंध अंग्रेजों के आगमन और उसके द्वारा स्थापित उपनिवेशवाद से है। अंग्रेजों के आगमन तक भारत अपनी मध्यकालीन अवस्था में था। वैज्ञानिक प्रगति, आधारभूत संरचनाओं, भौगोलिक एकता, आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था आदि के कोई भी चिहन मौजूद नहीं थे। 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों की जीत का अर्थ सामंतवाद की पराजय और पूंजीवाद के विजय के रूप में समझा गया। और यहीं से भारतीय संदर्भ में सामान्यत: आधुनिक काल का आरंभ माना गया।

इसी काल-खंड के कुछ आगे पीछे भारतीय नव-जागरण की प्रक्रिया भी चल रही थी। वस्तुत: विभिन्न माध्यमों से जो आधुनिकता के विचार भारतीय चिंतन और समाज में घुल मिल रहे थे उसी का प्रतिफलन नवजागरण में दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय

---

[90] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 277

नवजागरण परंपरा और संस्कृति पर बल देता है और चिंतन के केन्द्र में वही है, किन्तु उसके स्वरूप में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। तार्किकता पर आधारित वैज्ञानिक दृष्टि उसके मूल में है और इसीलिए चिंतन के केन्द्र में सामाजिक-राजनीति अभिप्राय आ जाते हैं।

इसलिए भारतीय संदर्भ में आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में नवजागरण के माध्यम से होती है और इस नवजागरण ने सबसे बड़ा काम किया। 'आत्म-चेतना' के भाव को जगाया। "आत्मचेतन का भाव तो संपूर्ण भारतीय नवजागरण में है। यही चेतना भारतीय अस्मिता-सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान है।"[91]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा है - "जिस दिन कवि ने परिपाटी विहीन रसज्ञता और रूढ़ि समर्थित काव्य-कला को साथ ही चुनौती दी थी, उस दिन को साहित्यिक क्रांति का दिन समझना चाहिए। सब कुछ झाड़-फटकाकर कवि ने आत्मनिर्मित आधार की कठोर भूमि पर अपने आपको जगाया। पहली बार उसने अपनी अनुभूति के ताने-बाने में एक संकीर्ण दुनिया तैयार की, संकीर्ण होने के साथ ही यह प्रसारधर्मी थी। इस भूमि पर, इस आत्मनिर्मित बेड़े के अंदर खड़े होकर हिंदी के कवि ने अपनी आँखों से दुनिया को देखा, कुछ समझा। पहली बार उसने प्रश्न भरी मुद्रा से दुनिया के तथाकथित सामंजस्य की ओर देखा। उसे संदेह हुआ, असंतोष हुआ, संसार रहस्यमय दिखा। हिंदी कवि के विचार और हिंदी कविता की रूप-रेखा दूसरी हो गई। केवल इसी दृष्टि से देखा जाए; तो हमारे आधुनिक कवियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।"[92]

इस प्रकार आधुनिक काल साहित्य के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि निर्मित करता है जिससे उसके चिंतन के केन्द्र में वर्तमान समय और उसको भोगने वाला मनुष्य आ गया। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि भारतेंदु में दिखाई पड़ती है। साथ ही, उनके मंडल के कई अन्य लेखक

[91] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 286

[92] हिंदी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. 122

भी इसी दिशा में लेखन कर रहे थे। यद्यपि उस समय हिंदी कविता को लेकर विचित्र विरोधाभासी स्थिति भी दिखलाई पड़ रही थी - "गद्य में राजनीतिक सामाजिक चेतना की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ रही थी, तो पद्य में समस्यापूर्ति, नायिका-भेद, षट्ऋतु वर्णन, नख-शिख वर्णन की अनुगूँज।"[93] लेकिन स्थिति में परिवर्तन आ रहा था और कविता भी अपने समय के सरोकारों से जुड़ने की कोशिश कर रही थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा भी है - "नवीन धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नील देवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश दशा की जो मार्मिक व्यंजना है वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान की अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"[94]

भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों के यहाँ भारत और भारतवासी बार-बार आते हैं -

"हाय ! बहै भारत-भुव भारी। सब ही विधि सौ भई दुखारी।"[95]

भारतेंदु ईश्वर को स्मरण करते हैं लेकिन बिल्कुल नए संदर्भ में -

"कहाँ करूणानिधि केशव सोए?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।।"[96]

अंग्रेजी-राज के इस आलोचना में पराधीनता-बोध अंतर्निहित है -

"अँगरेज-राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।"[97]

---

[93] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 286

[94] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 319

[95] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 320

[96] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 320

पराधीनता और देश की दुर्दशा की ऐसी ही चिंता प्रतापनारायण मिश्र के यहाँ भी मिलती है -

"तबहि लख्यौ जहँ रह्यो एक दिन कंचल बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहूँ को तरसत।।
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहुँ नाहीं।।"[98]

देश-दशा की चिंता बदरीनारायण चौधरी के यहाँ भी है -

"भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
....
नए नए दुख परे सीस भारत पर गाढ़े।।"[99]

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत भारतेंदु युग का महत्व इस रूप में तो है ही कि यथासंभव उन्होंने हिंदी कविता के चरित्र में उन आवश्यक गुणों को लाने का प्रयत्न किया जो उसे अधिक समाज और समय सापेक्ष बनाता है। तत्कालीन जीवन-बोध से संपृक्त करने की प्रक्रिया का आरंभ हुआ।

भारतेंदु युग के बाद द्विवेदी युग के अंतर्गत हिंदी कविता ने अपने विकास का अगला चरण पूरा किया। नवजागरण का सुधारवाद यहाँ रचनात्मक रूप लेता है और इस प्रकार समाज और कविता के बीच सुदृढ़ सेतु का निर्माण करता है। यद्यपि द्विवेदी युग की कविता इतिवृतात्मक और उपदेशात्मक मानी जाती है और जीवन और उससे जुड़ी समस्याओं को विचार एवं चिंतन के स्तर पर सरलीकृत करके देखने के आरोप लगते रहे हैं तथापि आधुनिक

---

[97] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 321
[98] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 320
[99] हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 321

भाव-बोध के प्रति सजगता और कई नवीन प्रसंगों को साहित्य रचना में लाने के कारण इस युग का अपना अलग स्थान है। जिस राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति भारतेंदु युग के प्रारंभिक अवस्था में थी वह द्विवेदी युग में और भी विकसित होती है। 'राष्ट्र' इस पूरे काल खंड की चेतना के केन्द्र में है और आत्मसम्मान का भाव पूरी कविता में अंतर्व्याप्त दिखलाई पड़ता है। यहाँ भारतेंदु युगीन अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति या श्रेष्ठता का भाव पूरी तरह जाता रहा और वर्तमान की दुर्दशा के प्रतिकार में अतीत के गौरव का स्मरण किया गया। लेकिन इस युग की विशेषता यह रही कि अतीत के गौरव के स्मरण के क्रम में कहीं भी वर्तमान ओझल नहीं हुआ। इसीलिए यहाँ इतिहास और तत्कालीन समस्याओं या चिंतन या बोध में गहरे संबंध दिखलाई पड़ते हैं। इतिहास के माध्यम से रचनाकार आत्मचिंतन की प्रक्रिया को सामने लाता है जो उस समय समाज के स्तर पर हो रहा था।

इस काल में कवियों की दो धाराएँ हैं। एक, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि की स्वच्छंदतावादी धारा और दूसरी, अनुशासन धारा में अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि। दोनों ही धाराएं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कई ऐसी रचना संस्कारों की आधारशिला रखने का प्रयत्न किया जिसका विकास आगे की हिंदी कविता में और भी व्यापक एवं अधिक रचनात्मक रूप से देखने को मिलता है। भाषा से लेकर भाव तक दोनों ही क्षेत्रों में इनका योगदान महत्वपूर्ण है। "यह ठीक है कि 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से खड़ी बोली को कविता और गद्य में सम भाव से प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को है, पर रचनात्मक स्तर पर इस समस्या से पहले श्रीधर पाठक जूझे।"[100] दूसरी तरफ "सबसे बड़ी बात यह कि इस स्वच्छंदतावादी काव्य-धारा ने जीवन से लगाव की एक भूमिका तैयार की जो आगे चलकर छायावाद में और गहरी हो जाती है।"[101]

---

[100] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 94

[101] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 94

श्रीधर पाठक की प्रसिद्ध पंक्ति - 'जगत है सच्चा तनिक न कच्चा, समझो बच्चा! इसका भेद।' के संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है - "पुनर्जागरण का मूल मंत्र जैसे यहाँ अनायास ही एक पंक्ति में ध्वनित हो रहा है।"[102]

एक और ऐतिहासिक महत्व का कार्य इस काल की कविता ने किया। यह संबंधित था - प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण से। यहाँ से कविता के माध्यम से प्रकृति एक स्वतंत्र व्यक्तितत्व ग्रहण करती है। मानव-जीवन की कल्पना उसके चारों ओर फैली प्रकृति के बिना नहीं की जा सकती। इसीलिए इस काल की कविता प्रकृति के प्रति सर्वथा नवीन दृष्टिकोण के साथ उसे अधिक आत्मीय रूप से चित्रित करती है। "श्रीधर पाठक के प्रकृति-काव्य में यदि जीवन से लगाव की ओर संकेत है तो वहीं ऐहिकता का भाव भी फूटता दिखाई देता है। ये दोनों प्रकृतियाँ अपने में एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। प्रकृति को यहाँ रीतिकाल जैसी उद्‌वीपन की भूमिका से मुक्त किया गया ....स्वच्छंदतावाद ने अग्रणी स्थिति में प्रकृति को निष्क्रिय सजावट के तौर पर नहीं देखा, उसे अपने में जीवन का एक सजीव पक्ष मान कर चित्रित किया।"[103]

'काश्मीर सुषमा' का यह प्रकृति संबंधी दृश्य इस संदर्भ में द्रष्टव्य है -

"प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन धारति।"[104]

"पाठक जी ने सौंदर्य के बद्ध घेरे को भी तोड़ा और गाँव के ज्वार-बाजरा, रहट-घरहे, सोआ-पालक के सौंदर्य की ओर भी हमारी दृष्टि खींची। अभी तक यह विषय कविता के लिए

[102] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 94
[103] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 94
[104] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 320

अस्पृश्य और अछूत था। जो गाँव आज की कविता के लिए मुख्य विषय हो गया है उसे काव्य वस्तु के रूप में ले आने की पहल पाठक जी ने ही की।"[105]

इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी के संदर्भ में भी राष्ट्रीयता की ध्वनि अलग रूप में सुनी जा सकती है - " 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' शीर्षक कवि के तीन खंड-काव्य छायावाद पूर्व कविता की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। ....इन खंड-काव्यों में चरित्रों के वैशिष्ट्य का अभाव कुछ-कुछ लोक-साहित्य की भाव-भूमि के निकट है। इस तरह सूक्ष्म कथा और हल्के रंगों वाले चरित्रों के संयोग में ये रचनाएँ एक गोचारणी सादगी लिए हैं, जो उस जन-जागरण के आरंभिक युग के अनुकूल थी। ....इन लोक अभिप्रायों से नवविकसित राष्ट्रीयता के भाव को संपृक्त करके कवि ने उसे अधिक व्यापक और ग्राह्य बनाना चाहा है।"[106]

डॉ. बच्चन ने इसे थोड़ा और स्पष्ट किया है - " 'मिलन' में विदेशी शासन से देशोद्धार, 'पथिक' में उपनिवेशवाद के एकतंत्र से मुक्ति तथा 'स्वप्न' में विदेशी आक्रमणकारियों से सुरक्षा का भाव-व्यंजित है। ....इन खंड काव्यों की एक मुख्य विशेषता यह है कि इनमें देशोद्धार के लिए नवयुवकों का आह्वान किया गया है।"[107]

रामनरेश त्रिपाठी की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं -

"तुम अपने सुख के प्रबंध के हो न पूर्ण अधिकारी,
यह मनुष्यता पर कलंक है प्रियबन्धु, तुम्हारी,
पराधीन रह कर अपना सुख शोक न कह सकता है,
वह अपमान जगत में केवल पशु ही सह सकता है।"[108]

---

[105] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 320
[106] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 95
[107] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 320
[108] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, पृ.सं. 321

इस काल में आधुनिक भाव-बोध की दृष्टि से अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त का विशेष महत्व है। रचना और चिंतन के केन्द्र में मनुष्य के आ जाने संबंधी आधुनिकता की विशेषता इन दोनों के यहाँ परिलक्षित होता है। हरिऔध की 'प्रिय प्रवास' और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और 'साकेत' विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण का चित्रण ब्रह्म के रूप में नहीं होकर महापुरुष के रूप में हुआ है। उससे भी बढ़कर रचना के केन्द्र में स्थित राधा का चित्रण सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से हुआ है। राधा केवल एक विरहणी नायिका भर नहीं रह जाती बल्कि अपने दु:ख को व्यापक सांसारिक दु:ख से जोड़ लेती है और समाज-सेविका के रूप में अपना चरित्र रूपांतरण कर लेती है।

मैथिलीशरण गुप्त के यहाँ भी राष्ट्रीय भाव धारा अपना विकास पाती है। उनकी रचना 'भारत-भारती' में जागरण का स्वर प्रधान है -

"हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएं सभी।"[109]

यहाँ ध्यान देने की बात है कि राष्ट्रीय भाव-धारा की अभिव्यक्ति बिल्कुल नवीन आधुनिक चेतना से संपन्न है। बहुत स्पष्ट है कि कवि अपनी और अपने समाज की स्थिति से असंतुष्ट है और भविष्य की चिंता भी साथ लेकर चल रहा है। अपनी विषम स्थिति के प्रति चिंतन का आह्वान है; वह भी सामूहिक स्तर पर। समस्या बड़ी है, व्यापक है तो उसके समाधान का प्रयास भी बड़े, व्यापक और सामूहिक स्तर पर करने की बात कवि कहता है। यह विचार आधुनिकता की उस दृष्टि से प्रेरित जान पड़ती है जहाँ सामाजिक आंदोलनों और संगठनों की व्यापक भूमिका स्वीकार की गयी है। निजी प्रयत्नों या ईश्वरीय अवतारों से समाधान के अतार्किक प्रस्तावों से यह यथार्थवादी प्रस्ताव के अधिक करीब है। अगर कवि ईश्वर को स्मरण करता भी है तो विश्वासों के पुनर्मूल्यांकन के साथ-

---

[109] भारत-भारती - मैथिलीशरण गुप्त, पृ.सं. 10

"राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?

विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?

तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे;

तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।"[110]

ईश्वर की परिकल्पना अब उसके मानवीय रूप के बिना संभव नहीं थी। प्रियप्रवास की राधा के समान ही 'साकेत' में उर्मिला और कैकेयी के प्रति बदले हुए नवीन मूल्यों से सहानुभूति प्रदान कर रचना के केन्द्र में लेकर आते हैं। भारतीय नारी के प्रति इस युग के रचनाकारों का दृष्टिकोण अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है, कम से कम एक विचार के प्रस्थान के रूप में तो अवश्य ही।

छायावाद को लेकर थोड़ी विभ्रम की स्थिति रही है। या तो उसे प्रकृति से संबंधित, प्रेमपरक या फिर नामानुरूप रहस्यवादी प्रकार का समझा जाता रहा है। लेकिन यह संपूर्ण सत्य नहीं है -"यह सचमुच एक विचित्र स्थिति है कि साधारण ढंग से छायावाद कहने पर चाँदनी रात, नौका-विहार, जुही की कलि आिद से संबद्ध कविताओं की याद अधिक दिलायी जाती है। 'कामायनी' (प्रसाद), 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' (निराला) को पृष्ठभूमि में डाल दिया जाता है।......यह ठीक है कि छायावादी कवियों के आरंभिक काव्य में प्रकृति के प्रति एक किशोर सम्मोहन भाव दिखता है, पर धीरे-धीरे इस प्रकृति का स्थान- मानवीय जीवन और उसकी विविध जटिल भाव-भूमियाँ ले लेती हैं।"[111]

छायावादी कवियों की दृष्टि वस्तुत: विश्व-दृष्टि इस रूप में कही जा सकती है इसने मानव के कुछ आधारभूत समस्याओं को पहचानने और अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। मनुष्य और उसके परिवेश का संघात और फलस्वरूप बनने वाली मन:स्थिति छायावाद में

---

[110] साकेत - मैथिलीशरण गुप्त (मंगलाचरण से पूर्व)

[111] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं; 107

प्रमुखता प्राप्त कर लेती है। इसलिए छायावादी काव्य की सबसे बड़ी मूल्य-चेतना 'स्वातंत्र्य' है। यह चेतना मूल है और अन्य सभी विशेषताएं या अभिव्यक्तियाँ इसी से निर्मित, संचालित या विकसित होती हैं। लेकिन यह स्वातंत्र्य-चेतना सीमित या एकआयामी नहीं है। इसके गहरे राजनीतिक और सामाजिक अभिप्राय हैं। राजनीतिक स्तर पर यह चेतना देश की पराधीनता के खिलाफ है तो सामाजिक स्तर पर सामंती सामाजिक संरचना या मूल्यों के खिलाफ। दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति परतंत्रता का अनुभव करता है और मुक्ति की आकांक्षा को अभिव्यक्त करता है -

"प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव भारत में भर दे।"[112]

छायावादी काव्य पर व्यक्तिवादी होने का आरोप भी लगता है। लेकिन छायावाद में जो स्वतंत्रता, मुक्ति की आकांक्षा है, उसका प्रारंभिक बिन्दु है - व्यक्ति। स्वतंत्रता तभी सही अर्थों में मानी जा सकती है जब व्यक्ति सामाजिक और मानसिक रूप से स्वतंत्र हो। इसलिए छायावादी व्यक्ति आत्मकेन्द्रित दिखता जरूर है लेकिन वह सामूहिक चेतना और स्वातंत्र्य-चेतना का मूल्य वाहक है। यह व्यक्तित्व के सही अर्थों में विकास की मांग है- सामंती और रूढ़िगत समय और समाज के विरूद्ध। यह चेतना कहीं-न-कहीं इस वृहद संघर्ष की छाया थी जो राष्ट्रीय स्तर पर देशमुक्ति के लिए चल रही थी। लेकिन इसकी विशेषता यह थी कि यह केवल एक ही दिशा में प्रवाहित प्रक्रिया नहीं थी अपितु यह पुन: उस व्यापक और वास्तविक स्वतंत्रता-संघर्ष का मूलाधार बन रही थी।

छायावादी काव्य सूक्ष्म और गहरे अर्थों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का काव्य भी है। व्यक्तिवादी या राजनीतिक, सामाजिक हलचलों से कटे होने का आरोप इस काल की कविता पर लगता रहा है। एक हद तक आरंभिक चरण के संदर्भ में यह ठीक भी है लेकिन छायावादी काव्य एक विकसनशील काव्य है और जो उसकी एक बड़ी विशेषता है। अपनी प्रकृति के

[112] राग-विराग - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पृ.सं. 74

अनुसार वह राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को भी सूक्ष्मता में धारण करती है। लेकिन उसके गहरे निहितार्थ हैं। इसीलिए छायावादी काव्य को 'शक्ति-काव्य' की संज्ञा भी दी गयी है -"वह मूलत: शक्ति -काव्य है, पुनर्जागरण चेतना का व्यापक और सूक्ष्म रूप है और अपनी अर्थ प्रक्रिया में मानव व्यक्तित्व को गहरे स्तरों पर समृद्ध करता है। इस युग की प्रतिनिधि रचना जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में देव और असुर संस्कृतियों से भिन्न और उनकी तुलना में अधिक सर्जनात्मक मानवीय संस्कृति के विकास का आख्यान है, उसके वर्तमान संकट की समझ है और इस संकट के बचाव की संभाव्य दिशा संकेतित है।" [113]

शताब्दियों से पराधीन राष्ट्र और पराधीन वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति लम्बे संघर्ष के बावजूद मुक्ति नहीं प्राप्त कर पा रहा है। समूचा राष्ट्र उद्वेलित है लेकिन निरूपाय है। ऐसे में जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' हो या निराला की 'राम की शक्तिपूजा' उस शक्ति की खोज और समन्वय की बात करते हैं जिसके बिना कोई भी संघर्ष सार्थक नहीं है -

"शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरूपाय
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"[114]

या फिर 'राम की शक्ति पूजा' में जाम्बवान का राम को परामर्श -

"शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन"[115]

इन पंक्तियों का संदर्भ अत्यंत व्यापक है। वैयक्तिक, राष्ट्रीय संदर्भों से बढ़कर यह समस्त मानवता की चिंता को धारण करता है। जिस भूमंडलीकृत, उपभोक्तावादी, यंत्र निर्भर स्थितियों में आज व्यक्ति जीने को विवश है क्या उसकी चिंता कामायनी में बीज रूप में नहीं

---

[113] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 110

[114] कामायनी - जयशंकर प्रसाद, पृ.सं. 77

[115] राम की शक्तिपूजा, राग-विराग - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पृ.सं. 92

देखी जा सकती है? देव-असुर और मानव संस्कृतियों की टकराहट का फिर रहस्य क्या है? क्या यह पाश्चात्य और भारतीय विकास की अवधारणा और जीवन-पद्धतियां के द्वंद्व के रूप में नहीं जान पड़ता? एक यंत्र आधारित संस्कृति अपनी समृद्धि के चरम पर इतरा रही है लेकिन भीतर ही भीतर क्षयमान है तो दूसरी ओर भारतीय नैसर्गिक जीवन-पद्धति है जो मानवीय और प्राकृतिक रागात्मकता के मूल पर प्रवाहित है। इसके संदर्भ वर्तमान समकालीन समय में भयावह होती जा रही जीवन स्थितियों से अनायाय ही जुड़ जाता है। आज भी सारी लड़ाई स्वाभाविकता और कृत्रिमता, भारतीय और पश्चिमी जीवन-दृष्टिकोणों और पद्धतियों का है। छायावाद सांस्कृतिक स्तर पर पश्चिम से बौद्धिक मुठभेड़ करता है। छायावाद अखंडित और समग्र दर्शन की वकालत करता है-

"समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।"[116]

छायावाद के संदर्भ में एक अन्य संदर्भ महत्वपूर्ण है। यद्यपि छायावादी काव्य का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण ही कहा जा सकता है क्योंकि काव्य में उपस्थित स्त्री का कोई सामाजिक स्वरूप या संदर्भ नहीं है केवल प्रेयसी रूप का ही अंगीकार है, अन्य रूप अनुपस्थित है जो सामंती दृष्टि की प्रधानता का संकेत करता है, बावजूद इसके महादेवी का काव्य इस पूरे दृष्टिकोण में कुछ हद तक अवश्य हस्तक्षेप करता है। उनके यहाँ स्त्री के आत्मविश्वासी और चुनौतियों को स्वीकार करने वाली स्त्री का चरित्र उभरता है-

"पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।"[117]

या फिर

"रात के उर में दिवस की चाह का सर हूँ।"[118]

[116] कामायनी - जयशंकर प्रसाद, पृ.सं. 126
[117] महादेवी वर्मा - संचयिता, पृ.सं. 91

यहाँ पुरुष-प्रधान समाज के विरूद्ध स्त्री के संघर्ष का आत्मविश्वास और चुनौतियों के स्वीकार का संदर्भ देखा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक तक राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों में व्यापक बदलाव आ गये। स्वतंत्रता संघर्ष जारी था और पूरे समाज की चेतना में वही मुख्य रूप से व्याप्त था लेकिन इसके साथ ही कई अन्य समस्याओं, मुद्दों की ओर धीरे-धीरे ध्यान जाने लगा और इसके पीछे कारक रहा 1936 ई. में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना। यद्यपि जिस सामाजिक शोषण और विषमता को प्रगतिवाद के अंतर्गत वर्णित किया गया वह हमेशा से किसी-न-किसी रूप में साहित्य के दायरे में रहा है किन्तु वैचारिक रूप में साहित्य के केन्द में आ जाने की घटना प्रगतिवाद में ही संभव हुई। प्रगतिवाद ने वैचारिक आधार के रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार किया और सामाजिक यथार्थ के चित्रण को मुख्य ध्येय माना। यह साहित्य को सोदेश्य मानने की विचारधारा थी। इसके अंतर्गत नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन मुख्य रूप से और बाद में केदारनाथ सिंह, मुक्तिबोध, शमशेर आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रगतिवाद की सबसे बड़ी देन है उसकी यथार्थपरक-दृष्टि। नामवर सिंह ने लिखा भी है - "सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है।"[119]

प्रत्येक घटना, कर्म, विचार, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के संघात के रूप में समझने का प्रयत्न आरंभ हुआ। इसीलिए कवियों ने शोषण की अमानवीयता का चित्रण शोषितों के प्रति सहानुभूति, पूंजीवाद को शोषण का कारण मानकर उससे घृणा, मुक्ति के लिए क्रांति चेतना और क्रांति के लिए राजनीतिक चेतना को अपना विषय बनाया।

---

[118] महादेवी वर्मा - संचयिता, पृ.सं. 84

[119] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - नामवर सिंह, पृ.सं. 72

नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता है - 'अकाल और उसके बाद'। इस कविता के माध्यम से जिस चरम दयनीयता का चित्रण हुआ है वह केवल प्राकृतिक आपदा की देन नहीं हो सकता -

"कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया, सोई उसके पास
कई दिनों तक लगी भीतर पर छिपकलियों की गस्त
कई दिनों तक चूल्हों की भी हालत रही शिकस्त।"[120]

प्रजातंत्र की वास्तविकता भी कवि से छुपी हुई नहीं है -

"श्वेत श्याम रतनार अँखियाँ निहार के
सिंडीकेटी प्रभुओं की पग-धूरि झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आए दिन बहार के।"[121]

दो और विशेषताएँ हैं जो प्रगतिवाद काव्य-आंदोलन की यथार्थपरक दृष्टि को सामने लाता है। पहला है - ग्राम्य - जीवन और प्रकृति का चित्रण अर्थात् किसानी - जीवन से संदर्भित प्रकृति के प्रसंग -

"एक बीते के बराबर
छरहरा ठिगना चना
बाँधे मुरेठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है।"[122]

---

[120] नागार्जुन रचनावली-1, पृ.सं. 226
[121] नागार्जुन रचनावली-1, पृ.सं. 423

दूसरी तरफ प्रेम जैसे नितांत एकांतिक और निजी समझ जाने वाले प्रसंग को भी सामाजिक चेतना और कर्म से जोड़कर देखने की विचार दृष्टि प्रगतिवाद ने दी -

"मुझे जगत जीवन का प्रेमी
बना रह है प्यार तुम्हारा।"[123]

समाज है, समाज में विषमता है, विषमता और शोषण को सहता, कठोर श्रम करता श्रमिक वर्ग, रोजगार के लिए पलायन को अभिशप्त श्रमिक। प्रेम उसके यहाँ भी है लेकिन असहाय और दयनीय वेदना से भरा हुआ -

"सचमुच इधर तुम्हारी याद तो नहीं आई,
झूठ क्या कहूँ पूरे दिन मशीन पर खटना
बासे पर आकर पड़ जाना ओर कमाई
का हिसाब जोड़ना, बराबर चित्त उचटना
इस-उस पर मन दौड़ना, फिर उठकर रोटी
करना, कभी नमक से कभी साग से खाना
धीरज करो आजकल करते तब आऊँगा
जब देखूँगा अपना घर कुछ कर पाऊँगा।"[124]

इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि या हिंदी कविता के इतिहास को सबसे बड़ी देन रही - वास्तविक अर्थों में आम आदमी, उसके जीवन, उसके अनुभवों, उसकी तकलीफों को साहित्य में प्रतिष्ठित करना। यह एक प्रकार से पूरे काव्य-विवेक और रचनात्मक लक्ष्य का स्थानांतरण था जिसने भविष्य के साहित्य के लिए सृजित किया। यथार्थवादी दृष्टि के अतिशय आग्रह से जीवन के एकांगी पक्ष का चित्रण यद्यपि उसकी सीमा कही जा सकती

---

[122] श्रम का सूरज (केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ), पृ.सं. 139
[123] त्रिलोचन संचयिता पृ.सं. 355
[124] प्रतिनिधि कविताएं - त्रिलोचन, पृ.सं. 51

है लेकिन साहित्य का दायित्व तय करने में इसकी बड़ी भूमिका रही। एक प्रकार से इसने साहित्य को अधिक जिम्मेदार बनाया और इसीलिए इसका प्रभाव व्यापक रूप से भविष्य की काव्य-धाराओं में महसूस किया जाता है।

सन् 1943 में सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन अज्ञेय द्वारा संपादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही हिंदी कविता में वैचारिक धरातल पर महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। छायावादी काव्य में जीवन-यथार्थ के निषेध और प्रगतिवाद में सामाजिक यथार्थ की अतिशयता एवं वादग्रस्तता की प्रतिक्रिया में स्वानुभूति की प्रामाणिकता को रचना के केन्द्र में रखकर प्रयोगवाद का विकास हुआ। नामवर सिंह ने लिखा भी है - " 'वाद' के विरूद्ध विद्रोह प्रयोगशील कवियों की पहली विशेषता है ....प्रयोगशील जीवन-दृष्टि की दूसरी विशेषता है कि सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण। जहाँ किसी पूर्व निश्चित 'वाद' से बचने की कोशिश है वहाँ सत्य का निरंतर अन्वेषण अनिवार्य हो जाता है।"[125]

लेकिन आगे नामवर सिंह ने प्रयोगवाद का केन्द्र बिन्दु चरम व्यक्तिवाद को घोषित करते हुए इसके सारे संदर्भों को समेट लेते हैं -"प्रयोगवाद के पन्द्रह वर्षों का इतिहास व्यक्तिवाद के दो सीमान्तों के बीच फैला हुआ है - इनमें से एक सीमांत के मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वैयक्तिक असंतोष और दूसरा सीमांत है जन-जागरण से डरे हुए कवि की आत्मरक्षा की भावना। कुल मिलाकर यह चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र-बिन्दु है और विभिन्न राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक मान्यताओं के रूप में यह संकीर्ण व्यक्तिवाद अपने को व्यक्त करता रहता है।"[126]

इस पूरे कथन से ध्वनित हो रहा कि प्रयोगवादी काव्य संकीर्णता का काव्य है और इसीलिए इतिहास-बोध या प्रतिरोधी-चेतना जैसे तत्वों को खोजना व्यर्थ है। लेकिन रामस्वरूप

---

[125] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ -नामवर सिंह, पृ.सं. 94-95

[126] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ -नामवर सिंह, पृ.सं. 99

चतुर्वेदी ने अपने इतिहास में उन व्यापक संदर्भों पर विचार किया है जो उस समय के कवि हृदय को मथ रहा था - "आधुनिक चिंतन में मनुष्य सारे मूल्यों का स्रोत और उपादन है और वह स्वयं ही उनके विघटन का कारण है। सहस्राब्दों में निर्मित और विकसित मानवीय मूल्य अब विघटित होते जा रहे हैं, यह हमारी वर्तमान सभ्यता की चिंता का केन्द्रीय विषय है।.......इधर प्राय: द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से तो मूल्य संबंधी मौलिक आधार ही जैसे उखड़ गए हैं। ....यह स्पष्ट है कि मूल्य-विघटन की इस स्थिति को लाने में विज्ञान और प्रविधि का सबसे अधिक हाथ है। ....प्रविधि के विकास का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि गति बढ़ी है..........बढ़ती हुई गति ने सारे मानवीय संबंधों और प्रतिमानों को अस्थिर कर दिया है। ......इस दृष्टि से समकालीन साहित्य की सबसे बड़ी चुनौती अर्थहीन लगने वाले मानव जीवन में नये अर्थ - संदर्भों के निर्माण की है। ....इस जैविक सृष्टि के अंतर्गत संवेदनात्मक अर्थ का सृजन और संचरण मानवीय जीवन की विशिष्टता; इसलिए चरम मूल्य और दायित्व है। साहित्य इस सार्थकता की खोज का प्रमुख माध्यम रहा है। ....आधुनिक सभ्यता का गठन अधिकाधिक यंत्र को केन्द्र में रखकर हो रहा है ......यंत्र की सहायता से अधिकाधिक मनुष्य एक-दूसरे के संपर्क में तो आ रहे हैं, पर उनमें पारस्परिक संप्रेषण और उससे उत्पन्न समझदारी का अभाव होता जा रहा है।"[127] और फिर आगे इन स्थितियों को स्पष्ट करने के बाद अज्ञेय के माध्यम से मानो प्रयोगवादी काव्य की प्रतिरोधी चेतना को व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं -"समकालीन जीवन के जिन खतरों की ओर अभी संकेत किया गया, उनसे उबरने के लिए मनुष्य के सर्जनात्मक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए विकसित करना ही पुरानी शब्दावली में, आधुनिक जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व मूलत: स्वाधीन होगा और स्वाधीन होकर ही दायित्व का अनुभव किया

[127] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं.192-194

जा सकता है।.................अज्ञेय ने अपने कृतित्व में बुनियादी तौर पर मानव व्यक्तित्व की इस स्वाधीनता, सर्जनात्मकता और दायित्व को सूक्ष्म और प्रभावी रूप में अंकित किया है।"[128]

उपरोक्त विवेचन को अगर ध्यान में रखा जाए तो कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद का एक सूक्ष्म किंतु गंभीर अर्थ-संदर्भ में महत्व अवश्य देखा जा सकता है।

प्रगतिवादी काव्य और प्रयोगवादी काव्य के बाद कविता की एक ऊर्जावान काव्य धारा के रूप में 'नयी कविता' का उदय हुआ। वस्तुतः इस काव्य धारा का 'उदय' एक समय प्रयोगवादी काव्य-धारा में सम्मिलित कवियों के ही द्वारा हुआ। लेकिन यह धारा अधिक उदार और सहज धारा थी। साथ ही, "यह स्मरणीय है कि नयी कविता युग का साहित्य पहली बार स्वाधीन और प्रजातांत्रिक देश में रचा गया है।"[129] इस रूप में इस काव्य धारा ने व्यापक तौर पर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन अनुभवों और व्यक्ति की क्रमशः होती जा रही संश्लिष्ट जीवन-स्थितियों को रचनात्मक रूप से प्रस्तुत किया। इसीलिए, "नयी कविता में मनुष्य और उसके समग्र अनुभव को पकड़ने का यत्न हुआ है। यों मनुष्य को उसकी संपूर्णता में देखने और समझने की प्रतिज्ञा हर नये वैचारिक और रचना-आंदोलन ने की है - 15वीं शती के यूरोपीय पुनर्जागरण से लेकर 20वीं शती की हिंदी छायावादी कविता तक। पुनर्जागरण का प्रधान बल समग्र मनुष्य (होल मैन) की धारणा था और आधुनिक हिंदी कवि भी कहता है कि जाति, वर्ण, संस्कृत, समाज से 'मूल व्यक्ति' को फिर से चाल कर निकाला जाए।

पर नयी कविता में समग्र मनुष्य की बात ही नहीं कही गई, वरन् मनुष्य के समग्र अनुभव-खंडों को संयोजित किया गया है। ....यहाँ केवल वीर और श्रृंगार जैसे रसों में जीवन

---

[128] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं.115

[129] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 234-235

सीमित नहीं रह गया, वरन् छोटे-से-छोटे समझे जाने वाले अनुभव-कणों की प्रासंगिकता पहिचानी गई है।"[130]

इसी संदर्भ में रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध पंक्ति है -

"हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन
'कम से कम' वाली बात न हमसे कहिए।"[131]

जीवन के साधारण किन्तु संपूर्ण पक्ष को महत्वपूर्ण ढंग से रेखांकित करने का ऐतिहासिक कार्य नई कविता ने किया। मुक्तिबोध ने भी लिखा है -

"जिंदगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हें प्यारा है।
गरबीली गरीबी यह, ये गंभीर अनुभव सब
मौलिक है, मौलिक है।"[132]

"यहाँ 'गरबीली गरीबी' का प्रयोग बरबस ध्यान खींचता है और भारतीय जिंदगी तथा समाज की एक बहुत बड़ी शक्ति को उजागर करता है। नयी कविता इस 'सारे के सारे जीवन' और 'गरबीली गरीबी' का काव्य है।"[133]

इस रूप में नयी कविता में यथार्थवादी दृष्टिकोण का बहुत ही रचनात्मक रूप प्रस्तुत हुआ है। इसी कारण से 'लघुमानव' की अवधारणा का सूत्रपात नयी कविता में संभव हो पाता

[130] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 234
[131] प्रतिनिधि कविताएं - रघुवीर सहाय, पृ.सं. 28
[132] प्रतिनिधि कविताएँ - गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ.सं. 20-21
[133] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. 235

है वह भी ऐसी लघुता जो हीनता से पूरी तरह मुक्त है। यह सामान्य मानव की संभावनाओं की खोज का काव्य है -

"मैं रथ का टूटा पहिया
लेकिन मुझे फेंको मत
क्योंकि इतिहासों की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे पहियों का आश्रय ले।"[134]

नयी कविता में व्यक्ति और समाज के बीच के नए, अत्यंत भावात्मक संबंध की भी खोज देखी जा सकती है और इसीलिए व्यक्तिगत भावनाओं का भी परिष्कार सामाजिक-बोध के रूप में संभव हो पाता है -

"दु:ख सबको माँजता है
और चाहे स्वयं
सबको यह मुक्त करना न जाने
किन्तु जिन्हें यह माँजता है
उन्हें यह सीख देता है
कि दूसरों को मुक्त रखे।"[135]

नयी कविता का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू उसकी राजनीतिक चेतना है जो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन से संबद्ध है। स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक वातावरण से उपजे मोहभंग और मानवीय प्रतिबद्धता के द्वंद्व से उपजा है यह पहलू -

"एक बार

---

[134] सात गीत-वर्ष - धर्मवीर भारती, पृ.सं. 93

[135] सर्जना के क्षण - अज्ञेय, पृ.सं. 28

जान-बूझ कर चीखना होगा
जिंदा रहने के लिए
दर्शक दीर्घा में से
रंगीन फिल्म की घटिया कहानी की
सस्ती शायरी के शेर
संसद-सदस्यों से सुन
चुकने के बाद।"[136]

समग्रत: नयी कविता बौद्धिक रूझान के साथ एक नयी रचना-चेतना का सूत्रपात करती है जिसके केन्द्र में आम मनुष्य और उसके जीवन के अनुभव खंड हैं। यह विषय और रुचि दोनों ही स्तरों पर निर्णायक रूप से हिंदी कविता में एक स्थानांतरण है।

इसके बाद हिंदी काव्य-धारा में 'अकविता' और 'जनवादी कविता' की चर्चा आती है। अकविता को लेकर तमाम मतवाद प्रचलित हैं और लगभग मान्य रूप में इसे 'विकृति' का काव्य घोषित किया गया है। इसका मुख्य कारण संबंधों और समाज से गहरे मोहभंग को माना जाता है। लेकिन अकविता में अगर मोहभंग की बात मान भी ली जाए तो यहाँ उसके खिलाफ सकारात्मक संघर्ष अनुपस्थित हैं। यह मोहभंग को मानसिक रूग्नता के स्तर पर धारण कर जीवन को पारंपरिक रूप से संस्कारित और अर्थवान बनाने वाले प्रत्येक संदर्भों, मान्यताओं, मूल्यों को ध्वस्त करने में विश्वास करने लगते हैं और आक्रोश का केन्द्र ईश्वर, धर्म, व्यवस्था, स्त्री को बनाते हैं। इसीलिए अकविता के सामाजिक, ऐतिहासिक आधार की खोज बहुत हद तक संभव नहीं है और यह एक मानसिक प्रतिक्रिया का काव्य अधिक है।

लेकिन इस आंदोलन की विकृतियों से कविता को वापस गंभीर दिशा की ओर लाने का महत्वपूर्ण कार्य धूमिल द्वारा किया गया। धूमिल यद्यपि अकविता आंदोलन से भी जुड़े रहे हैं

[136] आत्महत्या के विरूद्ध - रघुवीर सहाय, पृ.सं. 81

और 'धूमिल का एक छोर आधुनिकता से बँधा था तो दूसरा छोर अराजकता से। ये दोनों प्रवृत्तियाँ शुरू से ही दिखाई पड़ती हैं और अंत तक इन दोनों ने अपना संग साथ निभाया।'

धूमिल की राजनीतिक चेतना बहुत ही महत्वपूर्ण है। धूमिल का प्रहार राजनीति के उस चरित्र पर है जो आम इंसान के नाम पर आम इंसान के शोषण का ही कारण बन जाती है। इसलिए मोहभंग का यहाँ वास्तविक और सकारात्मक रूप प्रतिरोध की भाषा में देखा जा सकता है -

"अपने यहाँ संसद
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
आधा पानी है।" [137]

या फिर,

"यह जनतंत्र
जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है
और हर बार
वह भेड़ियों की जुबान पर जिन्दा है।"[138]

इसलिए कवि घोषणा करता है कि -

"मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है।"[139]

प्रजातंत्र पर यह प्रहार बार-बार इसलिए क्योंकि स्वतंत्रता के बाद वही उम्मीदों का कारण था लेकिन देखते-देखते कुछ ही वर्षों के भीतर वह कुछ लोगों के लिए सत्ता, धन, वर्चस्व प्राप्ति का जरिया बन गया। आम आदमी हतप्रभ और ठगा हुआ महसूस करने लगा -

---

[137] संसद से सड़क तक - धूमिल, पृ.सं. 127
[138] संसद से सड़क तक - धूमिल, पृ.सं. 44
[139] संसद से सड़क तक - धूमिल, पृ.सं. 66

"क्या आजादी तीन थके हुए रंगों का नाम है

जिसे एक पहिया ढोता है,

या इसका कोई खास अर्थ होता है।"[140]

इस माहौल में धूमिल ने सही मायनों में मोहभंग को आवाज दी और कविता को राजनीतिक-चेतना से युक्त करने का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य किया।

धूमिल जनवादी-कविता के आरंभिक प्रस्तावकों में रहे और साथ ही इस काव्य-धारा में प्रगतिवाद से जुड़े रहे कवि भी शामिल हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह इत्यादि का इस काव्य-धारा में भी नाम आता है, लेकिन प्रगतिवाद और जनवाद के बीच एक व्यापक अंतर उपस्थित होता है और वह है सांस्थानिकता और वैचारिक जड़बद्धता से मुक्ति। जनवादी कवि एकांगी दृष्टिकोण का त्याग कर अनुभव की स्वाधीनता को स्वीकार करते हैं और अपनाते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की पंक्तियाँ हैं -

"हम लेखक हैं, कथाकार हैं,

हम जीवन के भाष्यकार हैं,

हम कवि हैं जनवादी।"[141]

यहाँ जीवन का भाष्यकार कहा जाना महत्वपूर्ण रूपांतरण को बतलाता है। इनके यहाँ मानवीय पक्षधरता ही प्रमुख है। अपनी इस पक्षधरता के लिए वह प्रगतिवादी साहित्य से समूह या संगठन में आस्था को ग्रहण करती है -

"ये अकेले का सफर नहीं है

जीवन दास तुम अपनी साइकिल के

अकेले-अनोखे सवार नहीं हो

---

[140] संसद से सड़क तक - धूमिल, पृ.सं. 10

[141] प्रतिनिधि कविताएं - केदारनाथ अग्रवाल,पृ.सं. 88

जीवनदास ज़रा एक बार

ठीक से

सोच के तो देखो।"[142]

इसलिए जीवन में बदलाव की आकांक्षा है और उसकी पूर्ति के संघर्ष की चेतना है और सबसे बढ़कर संघर्ष के सामूहिक स्वरूप की पहचान है। यही वह प्रक्रिया है जिसके गर्भ में उम्मीदें सुरक्षित हैं। आस्था और संघर्ष दोनों को बचाये रखने के लिए जनवादी कविता उद्‌बोधन का सहारा लेती है ताकि सक्रियता बनी रहे -

"चाहे जितनी बार पूछना पड़े

चाहे पूछने में जितनी तकलीफ हो

पूछो कि गाड़ी अभी कितनी लेट है।"[143]

यहाँ गाड़ी व्यवस्था और उसमें अपेक्षित परिवर्तन का प्रतीक है।

जनवादी-कविता के इतिहास-बोध की एक बड़ी खासियत यथार्थ-बोध को व्यापक बनाने और नए खतरों की पहचान करने में है। 'बाजार', 'सांप्रदायिकता' जैसे नए खतरों की गहरी पड़ताल की शुरूआत जनवादी कविता में ही हो गयी थी। वेणुगोपाल ने बाजार के खतरे को भी भाँपते हुए संभवत: लिखा था -

"खतरे पारदर्शी होते हैं

खूबसूरत

अपने पार भविष्य दिखाते हुए।"[144]

यहाँ पारदर्शिता सच्चाई और ईमानदारी के लिए नहीं है, भ्रम के लिए है। यहाँ पारदर्शिता वस्तुत: आवरण है। बाजार की वास्तविक शक्ति की पहचान यहाँ है जो एक ऐसी

---

[142] सुनो कारीगर - उदय प्रकाश, पृ.सं. 27

[143] प्रतिनिधि कविताएँ - केदारनाथ सिंह, पृ.सं. 79

[144] हवाएँ चुप नहीं रहतीं - वेणु गोपाल, पृ.सं. 35

दुनिया का भ्रम रचती है जो वास्तविक नहीं है और इसीलिए कभी संभव नहीं है। बाजार द्वारा रची गयी मृगतृष्णा की पहचान जनवादी कविता में है।

जनवादी कविता के दौर में साम्प्रदायिकता को लेकर भी कवियों ने चिंताएँ व्यक्त की हैं -

"हसन नाम जानलेवा हो सकता है
बलवीर सिंह नाम के साथ भी सुरक्षित नहीं हैं आप,
महमूद नाम के खतरे तमाम हैं।"[145]

बाजार और सांप्रदायिकता जैसी समस्याओं को जनवादी कविता गंभीर मानवीय समस्या के रूप में चित्रित करती है। भविष्य की कविता पर जनवादी कविता की व्यापक छाप पड़ी और प्राय: सभी कवियों को जो गंभीर चिंता के साथ मानवीय सरोकार की कविताएं लिख रहे हैं, उन्हें जनवादी मान लिया जाता है। लीलाधर जगूड़ी, चंद्रकांत देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, कुमार विमल, अरूण कमल, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, उदय प्रकाश, अशोक वाजपेयी तमाम ऐसे हस्ताक्षर हैं जिन्होंने अलग-अलग रूपों में मानवीय सरोकारों और चिंताओं को अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया है और जिनमें अनेक, कई अन्य महत्वपूर्ण कवियों के साथ समकालीन हिंदी की परिधि में स्थान बनाते हैं।

*****

[145] प्रार्थना के शिल्प में नहीं - देवी प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 106

चतुर्थ अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना के विविध आयाम

I. भूमंडलीकरण

किसी भी समय की कविता के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने समय को अभिव्यक्त करे। 'समय की अभिव्यक्ति' से तात्पर्य समय की निरंतरता के क्रम में उस विशिष्ट काल खंड की अवस्थिति की पहचान से है जो सीधे रचनाकार से जुड़ता है अर्थात् जो रचना या रचनाकार का अपना समय है। जिस प्रकार स्थानीय हुए बगैर वैश्विक नहीं हुआ जा सकता, उसी प्रकार समकालीन हुए बगैर 'समय की अभिव्यक्ति' भी संभव नहीं है। वस्तुत: चाहे स्थानीयता का प्रश्न हो या समकालीनता का, मुख्य मुद्दा है वह इकाई जिसके बगैर वृहत्तर की कल्पना नहीं की जा सकती। साथ ही 'वृहत्तर की अभिव्यक्ति' का यह यथार्थपरक और संभव तरीका है।

सन् 1990 के बाद के समय को पहचानने के लिए अगर किसी 'कुंजी-शब्द' (Key word) की खोज करें तो वह निस्संदेह 'भूमंडलीकरण' है। सन् 1990 से अब तक लगभग दो दशकों से कुछ अधिक के समय के बीच 'मनुष्य' और 'उसके परिवेश' का मुख्य निर्माणकारी तत्व 'भूमंडलीकरण' है। समय की गति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है और स्थितियाँ जटिल से जटिलतर। एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र एक ही समय में स्वयं को सक्षम और अक्षम दोनों ही पाता है। ज्ञान, विज्ञान, धन, बल हर प्रकार से अति सुरक्षित होने का भ्रम एक सुनामी, एक भूकम्प, एक आर्थिक संकट या एक बम-विस्फोट तोड़ देता है। पृथ्वी के किसी भी कोने पर घटने वाली कोई भी विध्वंसकारी घटना समूची मनुष्यता को एक साथ डरा देती है। पूरी धरती का जनमानस कभी भी इतना एक साथ, इतना निकट लेकिन डरा हुआ नहीं रहा।

प्रश्न यह उठता है कि भूमंडलीकरण क्या है? डॉ. हेनरी किसिंगर, भूतपूर्व अमेरिकी विदेश मंत्री ने 12 अक्टूबर 1999 को डब्लिन के ट्रिनिटि कॉलेज में दिये अपने व्याख्यान में कहा - "बुनियादी चुनौती यह है कि जिसे भूमंडलीकरण कहा गया है, वह अमेरिका की वर्चस्व जमाए रखने संबंधी भूमिका का ही दूसरा नाम है।"[146] इसका कारण वे आगे बताते हैं -"बीते दशक के दौरान अमेरिका ने अभूतपूर्व समृद्धि हासिल की, पूंजी की उपलब्धता को व्यापक और घना किया, नयी प्रौद्योगिकियों की बहुविविधता के निर्माण, इनके विकास और इनके विस्तृत वितरण हेतु धन की व्यवस्था की, अनगिनत सेवाओं और वस्तुओं के बाजार बनाये। आर्थिक दृष्टि से इससे बेहतर कुछ और नहीं किया जा सकता। पूर्ण रोजगार, वास्तविक वेतन में बढ़ोत्तरी, उत्पादकता में वृद्धि, मुद्रास्फीति की नीची दर, समृद्धि में बढ़ोत्तरी और निर्बाध विकास........।"[147]

टॉमस. एल. फ्रीडमैन घोषणा करते हैं - "हम अमेरिकी, गतिशील विश्व के समर्थक हैं, खुले बाजार के पैरोकार हैं और उच्च तकनीक के पुजारी हैं। हम अपने मूल्यों और पिज्जा हट, दोनों का ही 'विस्तार' चाहते हैं। हम चाहते हैं कि विश्व हमारे नेतृत्व में रहे और लोकतांत्रिक और पूंजीवादी बने, प्रत्येक पात्र में वेबसाइट हो, प्रत्येक होठों पर पेप्सी हो, प्रत्येक कंप्यूटर में माइक्रोसाफ्ट विंडो हो।"[148]

अर्थात आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक हर प्रकार से पूरे विश्व पर अमेरिकी वर्चस्व ही भूमंडलीकरण है।

भूमंडलीकरण का आरंभ कब हुआ, वह कैसे कार्य करता है आदि में विस्तार से नहीं जाते हुए हमारा उद्देश्य वस्तुत: उसके प्रभावों को समझने का है। क्योंकि इसने अपने प्रभाव स्वरूप प्राय: संपूर्ण विश्व को अपने जद में ले लिया है। सुदूर गांवों तक में रहने वाले व्यक्ति

---

[146] भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ - गिरीश मिश्र एवं ब्रज कुमार पाण्डेय, पृ.सं. 38
[147] भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ - गिरीश मिश्र एवं ब्रज कुमार पाण्डेय, पृ.सं. 38
[148] भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ - गिरीश मिश्र एवं ब्रज कुमार पाण्डेय, पृ.सं. 38

का जीवन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इससे प्रभावित है। अगर प्रभाव को एक वाक्य में प्रस्तुत करना चाहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य जीवन में 'अर्थ' की केन्द्रीयता को इसने चरम स्तर तक पहुँचा दिया है। पूरी सृष्टि बाजार में तब्दील हो गयी है और प्रत्येक मनुष्य मात्र उपभोक्ता। किसी भी वस्तु या व्यक्ति की कीमत उसके बिकने या खरीदने की क्षमता पर निर्भर है। 'उपभोग' ही मात्र चरम मूल्य है और जिसकी सच्चाई समाज में आर्थिक स्तर पर भयावह असमानता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारे समय का सबसे बड़ा सरोकार भूमंडलीकरण, बाजारवाद, आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण आदि से मुख्यत: जुड़ता है क्योंकि इसने मानव सभ्यता विकास के क्रम में प्रकृति और गति दोनों ही स्तरों पर आधारभूत परिवर्तन उपस्थिति कर दिये हैं। भारत के लिए भी यह उतना ही बड़ा सच है। लेकिन भारतीय संदर्भ में कई ऐसे और भी महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन्हें उपरोक्त शब्दावलियों के साथ ही अन्य पहलुओं के संदर्भ में देखने की आवश्यकता है। जाति एवं वर्ण-व्यवस्था, लिंगगत असमानता, साम्प्रदायिकता, श्रमिक-कृषक प्रश्न, आदिवासियों की समस्या, क्षेत्रीयता आदि कई ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें ऐतिहासिक विकास-क्रम में और भारत विशेष के संदर्भ में समझने की आवश्यकता है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि भारत जैसे देश में अभी तमाम कई ऐसी पुरानी समस्याएं जड़ जमाए बैठी है जिनका निराकरण तो दूर दिन-ब-दिन वे भयावह हुए जा रहे हैं। वहीं दूसरी ओर नई समस्याओं ने भारतीय परिवेश को ग्रसना शुरू कर दिया है। पहले की समस्याओं ने जहाँ भारतीय समाज को एक एकीकृत समाज के रूप में विकसित होने से अवरूद्ध कर रखा या वहीं नई समस्याओं (आर्थिक उदारीकरण, बाजारवाद, आर्थिक असमानता आदि) ने विकास की गति को ही गलत दिशा में मोड़ दिया है। दोनों ही प्रकार की समस्याएं अपनी मात्रा और प्रभाव दोनों में ही चिंता का विषय है।

समकालीन हिंदी कविता (सन् 1990 के बाद) के संदर्भ में अब यह देखना जरूरी हो जाता है कि वह समस्याओं से रू-ब-रू होती हैं या नहीं और अगर होती हैं तो किस वैचारिक धरातल पर यह प्रश्न आवश्यक है क्योंकि

"सम्मानित होंगे वही कवि
जिनकी कविता में होंगे
मरे हुए आदमी के सबसे सुंदर बिंब।"[149]

साथ ही यह भी देखना जरूरी है कि समकालीन हिंदी कविता समस्याओं को तात्कालिकता में देखने की कोशिश करती है या ऐतिहासिक विकास क्रम में? क्योंकि यह तय है कि समस्या की जड़ या उसके स्रोत की खोज करनी है तो समस्या को व्यापक धरातल पर, कई कोणों से देखने की आवश्यकता है। क्या एक समस्या और समानांतर अन्य समस्याओं के बीच कोई संबंध है? उनका इतिहास क्या है? समस्याएं उसी रूप में हैं या बदले स्वरूप में, नये प्रभावों के साथ उपस्थित हैं, ऐसे तमाम प्रश्नों के लिए जरूरी है कि उनका अध्ययन ऐतिहासिक विकास क्रम में किया जाए। क्योंकि कई बार प्रश्न को उसकी समग्रता में समझने और उपस्थित कर देने से ही उसके उत्तर के बराबर का असर पैदा हो जाता है -

"आज भी सबसे बड़ी इच्छा है भरपेट अन्न
पृथ्वी किसलिए घूमती रही तब इतने दिन?"[150]

अब केवल धरती के घूमने को ही नियंत्रित करना बाकी है। स्थितियाँ जटिल हैं और इस हद तक कि जीवन का कोई भी पहलू आज अपने जाने-पहचाने स्वरूप में नहीं बचा है या जो बचा है बचे रहने की जद्दोजहद में है। लेकिन यह परिवर्तन क्यों? परिवर्तन तो सृष्टि का नियम है और परिवर्तनों ने ही मानव-सभ्यता को विकास की इस ऊँचाई पर पहुँचाया है।

---

[149] रात में हारमोनियम - उदय प्रकाश, पृ.सं. 72
[150] अपनी केवल धार - अरुण कमल, पृ.सं. 29

लेकिन इस विकास और परिवर्तन पर तब प्रश्न उठता है जब मनुष्य और मनुष्यता तो पीछे रह जाए, बाकी सब आगे निकल जाएँ। इस हद तक कि मनुष्य स्वयं को पहचानने के लिए जिनका आश्रय लेता था, वे अब उसकी पहचान के बचे ही नहीं हैं -

"जंगी बेड़ों पर नहीं
न तो दर्रा-खैबर से
आएँगे इस बार तुम्हारे भीतर से वे
धन-धरती ही नहीं
तुम्हारा मर्म तुम्हारे सपने भी वे छीनेंगे इस बार,

****

तुम्हारी दृष्टि तुम्हारा स्वाद
तुम्हारी खाल
तुम्हारी चाल-ढाल का भी बदलेंगे ढंग
बीजों के अंकुरण
और जीवों के गर्भाधान
नियंत्रित होंगे उनके कानूनों से

****

तुम्हारी कविता में वे
पहले से ही घोल चुके हैं
अपने छल के छंद
तुम्हारी भाषाओं के अंक मिथक किस्से मुहावरे

सिर्फ अजायबघर में अब पाए जाएँगे"[151]

वास्तव में भूमंडलीकरण ने जिस संस्कृति को पूरे भूमंडल पर फैलाया है वह है बाजारवाद की संस्कृति। पूरा भूमंडल केवल बाजार है, क्रिया केवल व्यापार और प्रत्येक मनुष्य केवल उपभोक्ता। आज प्रत्येक व्यक्ति की हैसियत केवल इसी बात से तय होती है कि उसकी बेचने या खरीदने की हैसियत क्या है? लेकिन इससे जुड़ी एक भारी विडम्बना भी उपस्थित है। वह यह कि इस बाजार की पहुँच तो प्रत्येक व्यक्ति तक है लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच इस बाजार तक नहीं है। बाजार ने समाज में आर्थिक आधार पर भयानक असमानता को जन्म दिया है। प्राकृतिक संसाधनों का तीव्र और भयावह दोहन केवल कुछ प्रतिशत लोगों के लिए राज्यों और सरकारों के सहयोग से किया जा रहा है और जो बड़ा वर्ग उसका प्राकृतिक हकदार था वह अब विस्थापित, बेरोजगार, भूखा या तो बड़े नगरों के राजमार्गों पर जीवन बिताने के लिए अभिशप्त है या फिर आत्महत्या कर मुक्ति प्राप्त कर लेने के लिए। "उल्टा भारत के लिए भूमंडलीकरण का अर्थ है - 'गुलामी का एक नया मंत्र'। एक ऐसे मंत्र का पाठ जो आर्थिक तर्क के नाम पर नवउदारवादी अंधविश्वास का बीज बो रहा है। नवउदारवाद में तीन तरह की नीतियाँ सक्रिय रहती हैं - निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण की नीतियाँ। इस त्रिधारा को ही नवउदारवाद का आधार माना जाता है। यह त्रिधारा पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करती है और मामूली आदमी के श्रम को चूसकर तगड़ी होती जा रही है।"[152]

समकालीन कवि इस असमानता की पहचान करता है। वह विकास की सच्चाई की परतें खोलने का काम करता है वह विकास की विभेदकारी चरित्र को सामने लाता है। विकास का यह चरित्र ऐसा इसलिए है क्योंकि इसका आधार वह समाज व्यवस्था है जो आधारभूत एवं ऐतिहासिक रूप से विभेदकारी और असमान रही है। श्रम करने वाला वर्ग श्रम का फल नहीं

---

[151] आगमन - दिनेश कुमार शुक्ल, समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-अगस्त 2011, पृ.सं. 43

[152] भूमंडलीकरण और साहित्य - कृष्णदत्त पालीवाल, समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-अगस्त 2011, पृ.सं. 201

भोगता है। उसे जाति, प्रजाति, वर्ग, लिंग के आधार पर भेद का शिकार बनाया जाता है और लाभ प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया जाता है। इसीलिए नगर हैं, महानगर हैं, उनमें अनेक भौतिक सुविधाएं हैं लेकिन वे उसकी परिधि पर रहने को अभिशप्त हैं। समाज का यह घोर विषम स्वरूप है जो उसकी अमानवीयता को ही उजागर करता है-

"शहर इलाहाबाद में है एक नगर सुभाष नगर
रइसों की बस्ती और नगर कोतवाल की कोठी के ठीक बीचोंबीच
कहते हैं यह बस्ती
इस शहर को बनाने वालों की बस्ती है।
****
सुभाष नगर मुहल्ला है ऐसे लोगों का
जिन्होंने बनाई है वे सड़कें
जिन पर वे निश्चिंत हो चल नहीं सकते
******
जो भवन, जो अपार्टमेंट्स वे बनाते हैं
उसमें नहीं होती उनके लिए कहीं इंच भर भी जगह।[153]"

लेकिन क्या उन्हें उनके श्रम के उपयोग के बाद सभ्यता की सीमा से निकाल बाहर किया जा सकता है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि यह श्रमिक वर्ग समाज के प्रभुत्वशाली और विकसित, सुविधासंपन्न वर्ग का चहेता नहीं है, बल्कि उसकी विवशता है, क्योंकि तमाम आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के बावजूद मानव-श्रम की आवश्यकता आज भी आधारभूत रूप से बनी हुई है। इसीलिए-

"जैसे जैसे बढ़ेगा शहर

---

[153] सुभाषनगर - खुदाई में हिंसा - बद्रीनारायण, पृ.सं. 26

वैसे-वैसे बढ़ेंगे सुभाष नगर
वे शहर की अभिजात्यता के खिलाफ
उसकी जरूरत बन बढ़ेंगे
वे रहेंगे इस शहर के नागरिक समाज के
भीतर अपराध बोध बनकर
वे भारतीय आजादी के साठ साल की आलोचना बन बढ़ेंगे
वे उभरेंगे शालीन चेहरों की शालीनता के खिलाफ
उस पर गुम्मड़ बनकर
लोकतंत्र के चेहरे पर दाग बनकर रहेंगे
वे रहेंगे शहर के इतिहास में इतिहास के खिलाफ
वे शहर के भूगोल का प्रतिरोध बनकर रहेंगे।"[154]

II. किसान

भारत कृषि प्रधान देश है - यह बात कभी फ़क्र के साथ तो कभी पिछड़ेपन की निशानी के तौर पर हमेशा से कही जाती रही है। यह सच है कि तमाम भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण, प्रौद्योगिकी विकास आदि के बावजूद भारत की अधिसंख्य आबादी कृषि कार्य में लगी हुई है। इसमें भी मुख्यत: दो वर्ग हैं - एक भूमि संपन्न किसान-वर्ग और दूसरा भूमिहीन कृषि श्रमिक वर्ग। स्थिति दोनों वर्गों की आज दयनीय है। कृषि कार्य में लगी हुई मुख्यत: ग्रामीण आबादी कृषि-कार्य के लगातार कठिन होते जाने, मौसम को लेकर अनिश्चितता के बढ़ते जाने, सरकारी सहयोग की घाषणाओं, योजनाओं के बावजूद जमीनी स्थिति का लगातार खराब होना, कर्ज के बढ़ते प्रकोप आदि के कारण, शहरों की ओर पलायन कर रही है। साथ ही एक और महत्वपूर्ण तथ्य विचारणीय है कि मुख्यत: कृषि प्रधान देश होने

[154] सुभाषनगर - खुदाई में हिंसा - बद्रीनारायण, पृ.सं. 26

के बावजूद कृषि कार्य में लगी आबादी कभी भी सामाजिक सम्मान की हकदार नहीं रही है। आर्थिक स्थिति तो दयनीय रही ही है, सामाजिक पहचान भी इस कारण नहीं मिल पा रहा है। अर्थ-केन्द्रित वर्तमान सामाजिक-सोपान में किसान लगातार हेय दृष्टि से, एक पिछड़े वर्ग के रूप में, परंपरावादी, रूढ़िवादी, अशिक्षित वर्ग के रूप में देखा जाता है। लेकिन किसान-ग्रामीण समाज के युवा वर्ग में शिक्षा और सूचना की बढ़ती पहुँच और नगर एवं ग्राम के बीच के फासले के लगातार घटते जाने से इस स्थिति से मुक्ति की आकांक्षा कहीं-न-कहीं दिखाई देती है। लेकिन संसाधनों की कमी और आधी-अधूरी शिक्षा, प्रशिक्षण आदि के अभाव में यह युवा-ग्रामीण वर्ग कृषि कार्य से तो अलग हो जाता है किन्तु शहरों-नगरों और महानगरों में पहुँचकर मजदूर, वह भी अधिकांशत: दिहाड़ी बनने के लिए अभिशप्त हैं। फलस्वरूप स्थिति और भी भयावह होती जा रही है। ग्रामीण-समाज लगातार विखंडन की ओर बढ़ रहा है और इस समाज के बीच हताशा इतनी बढ़ गयी है कि यह समाज आज आत्महत्या में ही अपनी मुक्ति देख रहा है -

> "एक किसान और मर गया
> इसे आत्महत्या कहना
> अपमान होगा
> मरने के समय
> वह बैंक का दरवाजा खटखटा रहा था"[155]

अगर स्थिति यह है तो लोकतंत्र का क्या? जनता की सरकार कैसी? आधी से अधिक आबादी अपनी रोजमर्रा की जरूरतों को ही आजीवन पूरा नहीं कर पाती। रोटी आज भी बड़ी समस्या है। यह आधी से अधिक आबादी किनकी है? यह आबादी है गाँवों की। मुख्यत:

---

[155] अपमान - लीलाधर मंडलोई, भूमंडलीकरण और कविता - रविरंजन कुमार, समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-अगस्त, 2011, पृ.सं. 223

किसानों, दलितों, आदिवासियों की। या फिर इनके बीच से वैसे अभागों की जो बेहतर जिंदगी की तलाश में नगरों और महानगरों में फुटपाथ या स्लम (गंदी बस्तियों) में अमानवीय स्थितियों में रह रहे हैं -

> "समाज की संरचना इतनी दिलचस्प थी कि आधी से ज्यादा आबादी
> दो जून की रोटी और कपड़े लत्तों की फिक्र में ही
> अपनी पूरी जिंदगी काट देती थी।"[156]

भारत में मौसम की मार, सरकारी नीतियों, श्रम की तुलना में मुनाफे का काफी कम होना आदि कारणों से किसान जिस संकट का सामना कर रहा है उसमें उसके पास विकल्प नहीं के बराबर है। "खेती की स्थिति क्या है इसकी एक झलक 'स्वामीनाथन आयोग' की इस रिपोर्ट (2007) में देखी जा सकती है जो यह बताती है कि 'इकतालीस प्रतिशत किसान वैकल्पिक रोजगार मिलने पर कृषि छोड़ देना चाहते हैं।' खेती पर से किसानों का भरोसा किस तरह उठता जा रहा है इसका प्रमाण राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो का यह आंकड़ा है कि 'पिछले सोलह साल (1994-2010) में ढाई लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्या की है।"[157]

भारत में गांवों की संरचना ऐसी थी कि वे आत्मनिर्भर हुआ करते थे। अर्थात एक व्यक्ति और परिवार के स्तर पर जो न्यूनतम आवश्यकताएँ होती थीं वह गाँव के ही स्तर पर पूरा हो जाया करता था। 'भोजन, वस्त्र और घर' की आवश्यकता के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। संकट तो तब भी थे वर्ना तुलसीदास क्यों लिखते कि 'खेती न किसान को', लेकिन संकट की भयावहता उतनी नहीं थी। संकट विस्थापन और पलायन या आत्महत्या तक नहीं पहुँचा था।

---

[156] चाँद की वर्तनी - राजेश जोशी, पृ.सं. 76

[157] सबलोग - किसन कालजयी, दिसम्बर 2011, पृ.सं. 5

यह व्यवस्था वस्तुत: मनुष्य की आवश्यकता से संबंधित था। लेकिन जब कृषि-कर्म को आवश्यकता से अधिक मुनाफे के रोजगार से जोड़ा जाने लगा तब स्थिति भयावह हो गयी या फिर स्वयं किसान के नियंत्रण से बाहर। परनिर्भरता बढ़ी और दलाल-बिचौलिया वर्ग अस्तित्व में आ गया जिनका किसी भी मानवीय सरोकार से कुछ भी लेना-देना नहीं था, मुनाफा ही जिनकी पहली और अंतिम चिंता थी। ये सारे बदलाव मुख्यत: देश पर अंग्रेजों की नीतियों के लागू होने पर आये। भूमि के निजी स्वामित्व, जमींदारी-लगान व्यवस्था, व्यावसायिक फसलों के उत्पादन पर बल, अग्रिम नगर राशि का लालच आदि ने पारंपरिक भारतीय कृषि संरचना में व्यापक और स्थायी बदलाव उपस्थित कर दिये। किसान कृषि-कार्य में लगा तो रहा लेकिन स्थितियाँ उसके नियंत्रण से बाहर होने लगी। “अंग्रेजों ने एक चालाकी यह की कि नयी भू-राजस्व व्यवस्था में लगान नगदी में लेने का प्रावधान बना दिया। नकद पैसों के लिए किसान अपना अनाज बाजार में बेचने के लिए मजबूर हो गये। फिर तो बाजार निर्देशित करने लगा कि किसान कब कौन-सी फसल उगायेंगे। किसानों पर बाजार की यह चढ़ाई कभी थमी नहीं।”[158]

बाजार की यह चढ़ाई आज किसानों के देश में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा की जा रही है। आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण की निरंतर बढ़ती प्रक्रिया ने किसानी के साथ ही साथ किसानों को भी लीलना शुरू कर दिया है। “दरअसल 1990 से ही भूमंडलीकरण की नीतियों ने किसानों पर भीषण प्रहार किये हैं। बढ़ते कर्ज, लागत-मूल्यों में भारी इजाफा, विक्रय-मूल्य में लगातार कमी और कर्ज के सस्ते और सरकारी स्रोतों का अभाव मोटे तौर पर यही ऊपरी कारण है, जिन्होंने किसानों की दुर्दशा कर डाली है।”[159]

---

[158] सबलोग -किशन कालजयी, दिसं. 2011, पृ.सं. 5

[159] कथादेश - प्रणय कृष्ण, मई 2012, पृ.सं. 71

सवाल यह है कि कृषि-संरचना का विकास कृषकों के हित में होना चाहिए या कि बाजार और मुनाफाखोरों के हित में। अन्न पर अधिकार अन्न उपजाने का नहीं तो और किसका होना चाहिए? अन्न उपजाने वाला आज स्वयं भूखा है -

"अन्न पेट के लिए नहीं

उनके यहाँ

अन्न है रखने को गोदामों में

कैसे तब्दील करें हम

अपने पसीने को

अपने लिए

अन्न के दानों में?"[160]

किसान के लिए कृषि व्यवसाय नहीं है, मुनाफा का जरिया नहीं है, वह उसकी जरूरत है, जीवन है, भोजन है - "छोटे किसान अपने कृषि उत्पाद का लगभग 60 प्रतिशत अपने निजी उपयोग के लिए रखता है। जिसमें उसका निजी उपभोग, श्रमिकों की मजदूरी के रूप में अनाज और बीज तथा पशुओं के चारे के रूप में उपयोग करता है। वह केवल अपने कृषि उत्पाद का 40 प्रतिशत ही बेचता है।"[161]

इस बात को बिना ध्यान में रखे सरकारी नीतियाँ लगातार व्यापारिक मुनाफा देने वाली फसलों की कृषि पर बल दे रही हैं, तो दूसरी तरफ एफ.डी.आई के माध्यम से निजी बहुराष्ट्रीय निगमों को कृषि क्षेत्र में हस्तक्षेप का मौका दे रही हैं। इन दोनों का ही परिणाम किसानों की आत्महत्या का कारण बनते जाने की पूरी संभावना है। गोरे लाल चंदेल ने अपने लेख में संकेत भी किया है - "किसानों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याओं का आकलन किया जाए तो

---

[160] कथादेश - राजेन्द्र कुमार, मई 2012, पृ.सं. 132

[161] कथादेश - प्रो. गोरेलाल चंदेल, मई 2012, पृ.सं. 31

उनमें बड़ा प्रतिशत उन किसानों का मिलेगा जिन्होंने अपना भोजन देने वाले खाद्यान्नों के उत्पादन की बजाय व्यापारिक फसलों के उत्पादन से जुड़कर असफल होते रहे।"[162] आगे वे एफ.डी.आई. के प्रभाव की भी बात करते हैं - "एफ.डी.आई का खुदरा बाजार में प्रवेश से ....भोज्य पदार्थ अथवा खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले किसानों को अपने खाने-पीने का सामान बहुत ऊँची कीमत पर खुले बाजार से खरीदने के लिए विवश होना पड़ेगा। इससे भूखे किसानों और बेरोजगार व्यापारियों के पास आत्महत्या के अलावा कोई और रास्ता नहीं बच पायेगा।"[163]

भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ की लगभग 65 प्रतिशत आबादी कृषि पर ही निर्भर है और इस कृषक आबादी[164] का लगभग 3 लाख सन् 1995 से 2006 के बीच आत्महत्या[165] कर चुके हैं। यह संख्या लगातार बढ़ रही है। "सन् 1991 और 2001 की जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि इन 10 सालों में लगभग 80 लाख किसानों ने खेती से किनारा कर लिया।"[166]

भारतीय समाज के लिए यह एक भयावह स्थिति है या उससे भी बड़ी - "पिछले बीस वर्षों में भारत के जितनी बड़ी संख्या में किसानों ने आत्महत्या की है वह भारत के इतिहास में नहीं, पूरे मानव समाज के इतिहास में अपूर्व है।"[167] लेकिन इस अपूर्वता की पहचान में लगता है हिंदी साहित्य चूक गया है - "लगता है कि भारतीय किसानों की इतनी बड़ी संख्या में आत्महत्या की भयानक खबर अभी पूरी तरह हिंदी साहित्य की दुनिया तक नहीं पहुँची है, क्योंकि अभी हिन्दी में किसानों की आत्महत्या पर इतनी और ऐसी कविताएं या कहानियां

---

[162] कथादेश - मई 2012, पृ.सं. 28-29
[163] कथादेश - मई 2012, पृ.सं. 32
[164] कथादेश - नरसिंह दयाल, पृ.सं. 61
[165] कथादेश - नरसिंह दयाल, पृ.सं. 66
[166] कथादेश - प्रणय कृष्ण, पृ.सं. 70
[167] कथादेश - मैनेजर पाण्डेय, मई 2012, पृ.सं. 33

नहीं लिखी गयी हैं जो पाठकों को बेचैन और आंदोलित करे।"[168] आगे लेखक कारणों की ओर भी संकेत करता है - "वैसे पिछले दो दशकों से हिन्दी साहित्य का लगातार शहरीकरण हो रहा है। ऐसे में गाँवों और किसानों की दुर्दशा और तबाही की चिंता का कम होना समझ में आता है।"[169]

यद्यपि समकालीन हि�न्दी कविता में किसानों और उनकी वर्तमान समस्याओं को लेकर कविताओं की संख्या अधिक नहीं है लेकिन जो कुछ एक रचनाएं हमारे सामने हैं वह काफी समग्रता से उपरोक्त तमाम संदर्भों को समेटने का प्रयास करती है। राजेश जोशी की कविता 'इस आत्महत्या को अब कहाँ जोड़ूँ' इस संदर्भ में काफी महत्वपूर्ण है -

"देश के बारे में लिखे गये हजारों निबंधों में लिखा गया
पहला अमर वाक्य एक बार फिर दोहराता हूँ
भारत एक कृषि प्रधान देश है
दुबारा उसे पढ़ने को जैसे ही आँखें झुकाता हूँ
तो लिखा हुआ पाता हूँ
कि पिछले कुछ बरसों में डेढ़ लाख से अधिक किसानों ने
आत्महत्या की है इस देश में
भयभीत होकर कागज पर से अपनी आँखें उठाता हूँ
तो मुस्कुराती हुई दिखती है हमारी सरकार
कोई शर्म नहीं किसी की आँख में
दु:ख या पश्चाताप की एक झांई तक नहीं चेहरे पर"[170]

---

[168] कथादेश - मैनेजर पाण्डेय, मई 2012, पृ.सं. 35
[169] कथादेश - मैनेजर पाण्डेय, मई 2012, पृ.सं. 33
[170] कथादेश, मई 2012, पृ.सं. 130

सरकार की प्राथमिकताएं अब बदल चुकी हैं। क्या यह प्रजातंत्र की सरकार है? कहीं ऐसा तो नहीं कि इस प्रजातंत्र के प्रभु-वर्ग प्रजातंत्र की कोई और ही परिभाषा गढ़ रहे हों। क्योंकि भारतीय प्रजातंत्र में तो सबसे बड़ा 'भागीदार समूह' किसानों का है। लेकिन कभी भी उसके एकीकृत, सामूहिक स्वरूप को उभरने नहीं दिया गया है। उसे जाति, प्रजाति, अर्थ, क्षेत्र अनेक विभाजनों में सोचने और जीने के लिए बाध्य किया जाता रहा है। ऐसा इसलिए कि सरकार किसी भी प्रतिरोध के अभाव में मगन रह सके -

"परमाणु करार को आकुल व्याकुल सरकार
स्वाधीनता संग्राम के इतिहास को अपने कीचड़ सने जूतों से
गंदा करती एक बड़े साम्राज्य के राष्ट्राध्यक्ष को
कोर्निश बजाती नजर आती है
पत्रकारों और मीडियाकर्मियों के प्रश्नों को टालती हुई
कि जल्दी ही विचार करेगी वह किसानों के बारे में"[171]

सरकार की जिम्मेदारी तो है लेकिन शेष समाज की संवेदनहीनता आश्चर्य में डालने वाली है। पढ़ा-लिखा शहरी समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्न दाने के लिए कठिन श्रम करने वाले किसान का किसी-न-किसी रूप में कर्जदार है। शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसका संबंध गांवों से और किसी-न-किसी रूप में किसान परिवार से न हो। लेकिन वह अपनी सभ्य, साफ-सुथरी, सुविधा संपन्न दुनिया में व्यस्त है -

"गुस्से से बेसुध होकर थूकता हूँ सरकार के चेहरे पर
पर वह सरकार नहीं, सरकार की रंगीन छवि है
थूक के छींट मेरे ही चेहरे पर गिरते हैं

---

[171] कथादेश, मई 2012, पृ.सं. 130

खिसियाकर आस्तीन से अपने चेहरे पर को पौंछता है

तभी कोई कान में फुसफुसाता है

एक किसान ने कुछ देर पहले ही आत्महत्या कर ली

तुम्हारे अपने गाँव में.......।

आत्महत्या के आँकड़ों में अब इसे कहाँ जोड़ूँ?"[172]

बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय निगम कृषि क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, फार्मिंग कृषि बढ़ रही है, कृषकों के हाथ से खेती छीनी जा रही है। वह खेती जो हजारों वर्षों से पारंपरिक, पुश्तैनी रूप से उसके जीविकोपार्जन से लेकर उसके जीवन-मूल्य, संस्कार, विचार, खान-पान, संबंध, स्वभाव सभी कुछ का आधार रहा है। वह अपनी कला का महारथी है जो उसने प्रकृति की गोद में उसके सहयोग से हजारों वर्षों में विकसित किया है। उसे खती करनी आती है, वह श्रम कर सकता है लेकिन उसे कोई और कला, कोई और व्यवसाय नहीं आता है। वह अपने ही घर में हतप्रभ, भौंचक खड़ा है। उससे उसकी जमीन, उसकी खेती, उसका बीज, उसका घर, उसका गाँव, उसका समाज, परिवेश सभी कुछ छीना जा रहा है। विस्थापित किसान मजदूर, नौकर, अपराधी बनने के लिए मजबूर हैं। ये विकल्प भी अगर समाप्त हो गये तो आत्महत्या कर मुक्ति पा लेते हैं -

"संकट बढ़ रहा है

छोटे-छोटे खेत अब नहीं दिखेंगे इस धरती पर

कारपोरेट आ रहे हैं

कारपोरेट आ रहे हैं

सौंप दो उन्हें अपनी छोटी छोटी जमीनें

[172] कथादेश, मई 2012, पृ.सं. 130

मर्जी से नहीं तो जबरदस्ती छीन लेंगे वे
कारपोरेट आ रहे हैं
जमीनें सौंप देने के सिवा कोई और विकल्प नहीं तुम्हारे पास!
नहीं नहीं, यह तो गलत वाक्य बोल गया मैं
विकल्प ही विकल्प है तुम्हारे पास
मसलन भाग सकते हो शहरों की ओर
जहाँ तुम न किसान रहोगे न मजदूर
घरेलू नौकर बन सकते हो वहाँ
****
अपराध जगत के दरवाजों पर नो-वेकेन्सी का
कोई बोर्ड कभी नहीं रहा
अब भी लामबंद न होना चाहो, लड़ना न चाहो अब भी
तो एक सबसे बड़ा विकल्प खुला है आत्महत्या का।"[173]

बड़ी शक्तियों के सामने किसान बेवश है। उनका कोई संगठन, आंदोलन एक सिरे से अनुपस्थित है जो उन्हें इस विकट परिस्थिति के खिलाफ लामबंद कर सके। जैसा कि पहले भी कहा गया कि बहुत ही सुनियोजित तरीके से किसान-समाज को संगठित होने से रोका गया है। अनेक विभेदों को उनके बीच जन्म दिया गया है, अनेक हित-समूह बनाये जाते रहे हैं। इन हित-समूहों का अलग-अलग समय में अलग-अलग रूपों में तुष्टिकरण किया जाता रहा है। जिन विपत्तियों का सामना उस समाज को करना पड़ रहा है वे उनके समाज से निकली हुई नहीं हैं बल्कि उन पर आरोपित हैं। इसलिए भी किसान उनके प्रतिरोध की युक्तियों को

[173] कथादेश, मई 2012, पृ.सं. 130

नहीं खोज पा रहा है। उसका पारंपरिक ज्ञान काम नहीं आ रहा है। ऐसे में भरोसा किसान रखे भी तो कैसे -

"कुछ भी तो नहीं
जो बचा सके हों हम खुद अपने लिए
अपनी किसानी के बूते
चुप्पा और अनाम
ये विपदाएँ कैसी हैं
जो हमारी हाड़तोड़ मेहनत
की चीख को
विकास के जैकारों में गुम कर देती हैं"[174]

यह विकास के अर्थ बदल जाने की विडम्बना है कि किसी देश की 60 प्रतिशत आबादी जोर-शोर से चलने वाली विकास-प्रक्रियाओं में अपनी हिस्सेदारी नहीं देखता है। बहुत सारी सरकारी नीतियाँ हैं, कल्याण-योजनाएँ हैं, आर्थिक पैकेज है, हरित-क्रांतियाँ हैं, बैंकों का फैलता जाल है, तकनीक की गहमागहमी है लेकिन किस शर्त पर। अन्न पैदा करने के बावजूद वह भूख का शिकार है। उससे उसका अन्न छिनकर समुद्रों में बहा दिया जाता है ताकि उसकी बाजार कीमत कम नहीं हो। किसान तो तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों, कठिनाइयों के बावजूद केवल अपने श्रम के बल पर अन्न की पैदावार कर देता है लेकिन उस पैदावार को संरक्षित करने का काम सरकारें नहीं कर पातीं। फलस्वरूप खुले आसमान के नीचे पड़े-पड़े बरबाद हो जाती हैं। किसान इस विडम्बना को नहीं समझ पाता कि अन्न भूख के हिसाब से वितरित होना चाहिए या खरीदने की क्षमता के अनुसार। उसके उपजाये अन्न पर बाजार की ताकतों ने कब्जा कर लिया है-

[174] कथादेश - राजेन्द्र कुमार, मई 2012,पृ.सं. 131

“फसलें हमने बचाई
मगर, दाने
खेत से खलिहान तक के सफर में
होते रहे बेगाने
‘अपने’ का ‘बेगाना’ बनते देखना
रह गया कितना अनदेखा
दिखता है आँकड़ों में अच्छी पैदावार
दिखते हैं इश्तिहारों में
किसानों के सुखी परिवार
किसकी कितनी भूख है -कोई नहीं पूछता
बाजार में जिसे देखो वही पूछ रहा है
किसका क्या भाव है।”[175]

समकालीन कविता ने किसान जीवन की इसी सबसे बड़ी विडम्बना को बार-बार रेखांकित किया है। किसानों के द्वारा उपजाये अन्न और उसकी बदौलत जीवन का सुख भोगता शेष समाज किसान को क्या देता है? समकालीन हिन्दी कविता उसकी भूख और मृत्यु दोनों की त्रासद अभिव्यक्ति करती है। इसीलिए जिन मुख्य मुद्दों को समकालीन हिन्दी कविता में इस संदर्भ में बार-बार देखा जा सकता है वे हैं -

1. खेत और खेती का छूटना
2. भूख और भयानक दरिद्रता
3. विस्थापन
4. बाजार

---

[175] कथादेश - राजेन्द्र कुमार, मई 2012, पृ.सं. 131

5. आत्महत्या इत्यादि।

समकालीन हिन्दी कविता किसान की सभी समस्याओं के वर्णन के बीच में सरकार, शेष समाज, विकास और सबसे बढ़कर बाजार को भी बार-बार लाती है। इसका कारण संभवत: यह है कि कवि उत्तरदायित्व को तय करने का प्रयास कर रहा है। किसी भी सभ्यता और समाज के लिए सबसे जरूरी वर्ग किसान की बलि अंतत: समाज की ही बलि ले लेगा। किसान को एक गहरे और अत्यंत व्यापक ऐतिहासिक बोध के साथ देखने का प्रयत्न भी दिखलायी पड़ता है -

"वह
यज्ञ की वेदी पर जिसकी बलि दी गयी
उसी के रक्त से ऋतुएं पैदा हुई
फिर रबी और खरीफ की बुआई का समय तय हुआ
फूलों के खिलने और पत्तों के झरने का मौसम तय हुआ
उसकी आह से तरह-तरह के परिंदे पैदा हुए
उसकी चीख से पैदा हुए शेर चीते और भालू
****
इस तरह खेती किसानी शुरू हुई
और फिर गाँव और नगर बसना शुरू हुआ
इस तरह सभ्यताएँ पैदा हुई
****
और सत्ताएँ पैदा हुई
सत्ताओं ने बलि के नये नियम बनाये

और एक बार फिर उसकी बलि दी गयी।"[176]

किसान के भूख, उसकी आत्महत्या और बाजार के बीच गहरा संबंध कविता खोजती है। बाजार आर्थिक लाभ के लिए, मुनाफे के लिए, उचित अवसर के लिए उसका संकेन्द्रण कर लेती है। मुनाफा ही मूल सत्य बन गया है इसलिए फसलों में भी उन फसलों की उपज को बढ़ावा दिया जाता है जो व्यापारिक लाभ तो देते हैं लेकिन जिन्हें मुख्य खाद्य के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। और फिर उसे भी पेटेंट आदि के नाम पर एकाधिकार में ले लिया जाता है। किसान को अपने पैदा किये अनाज और उसके लाभ के लिए तो आज तक बाजार नहीं मिला लेकिन अपने ही बीज और भोजन के लिए वह बाजार का मोहताज हो गया -

"खेत जो अब उनके हैं
जो खाने से उबे
कमाने को आतुर हैं
बीज अब उनके हैं
जिन्हें
सब कुछ अपने नाम से
पेटेंट करा लेने की हड़बड़ी है
****
खाली हमारे लिए
ढोने की डलियाँ हैं
जिनमें वो
अन्न नहीं, कर्ज हमें देते हैं

[176] कथादेश - राजेश जोशी, मई 2012, पृ.सं. 130-131

जगहें हमारे लिए

मुर्दाघरों में हैं-

अन्न पेट के लिए नहीं,

उनके यहाँ

अन्न है रखने को गोदामों में

कैसे तब्दील करें हम

अपने पसीने को

अपने लिए

अन्न के दानों में?"[177]

किसान भी सपने देखता है, एक बेहतर जिंदगी की, अपनी आने वाली पीढ़ियों का खुशहाली देने की। लेकिन कठिन श्रम करने के बावजूद वह उन सपनों, आकांक्षाओं को खत्म होते देखता है। बेहतर जिंदगी की तलाश तो अधूरी रह ही जाती है, जीने का जरिया खेती भी नहीं बची। समकालीन हिन्दी कविता इन सपनों और उनके अधूरे रह जाने के संत्रास, विडम्बना को भी पहचानती है और उसके दुष्परिणामों सहित सामने लाती है -

"मैं एक किसान हूँ

रोजी नहीं कमा सकता गाँव में

****

और मेरा गाँव?

मेरा गाँव बसेगा

दिल्ली मुम्बई जैसे महानगरों की कीचड़-पट्टी में।"[178]

---

[177] कथादेश - राजेन्द्र कुमार, मई 2012, पृ.सं. 132

[178] कथादेश - नीलय उपाध्याय, मई 2012, पृ.सं. 132-133

व्यवस्था एक तरफ और किसान का संघर्ष एक तरफ। पूरी व्यवस्था किसान के खिलाफ अपने षड्यंत्र में एक साथ है। व्यवस्था, सरकार और लोकतंत्र का हर अंग इसमें शामिल है और न केवल शामिल है बल्कि उसके इस चरित्र, षड्यंत्र, लूट के खिलाफ लड़ने वाला अपराधी घोषित कर दिया जाता है।

"फँसाने के लिए कि पंडित-मुल्ला-महाजन-नेता-अफसर सभी हैं
उजाड़ने के लिए सुप्रीम कोर्ट से लेकर
सरकार तक है
बचाने के लिए कोई नहीं
किसान का बेटा लड़े अगर
तो नक्सली करार दिया जाता है।"[179]

III. स्त्री

दलित, आदिवासी और स्त्री - इन तीन वर्गों की सामाजिक स्थिति अत्यंत दयनीय रही है। शोषण की एक लंबी हजारों वर्षों की परंपरा रही है और मुक्ति के लिए प्रयास का इतिहास भी साथ चलता रहा है। लेकिन इस प्रयास का विमर्शों के रूप में तमाम बहसों, आंदोलनों के केन्द्र में आ जाने का इतिहास बहुत लंबा नहीं है। अस्मिता की खोज ने विमर्शों को जन्म दिया ओर तब आरंभ हुआ उन तमाम इतिहासों, शास्त्रों, वेदों-पुराणों आदि के उन स्थानों की खोज जहाँ उनकी दासता के बीज बोये गये थे।

इन तीन वर्गों में भी स्त्री की सामाजिक स्थिति सर्वाधिक विडम्बनायुक्त रही है। कारण यह है कि उसे एक सामाजिक मान्यता प्राप्त है, उसे गौरवान्वित करने की एक परंपरा रही है। परिवार में माता के रूप में, तो आराधना में देवी का दर्जा दिया जाता रहा है, लेकिन साथ ही शोषण का चक्र, अधिकारों से विमुख करते रहने का चक्र, संसाधनों और संपदाओं में

---

[179] कथादेश - दिनेश कुशवाहा, मई 2012, पृ.सं. 135

साझेदारी से विमुख करते रहने का चक्र, शिक्षा-ज्ञान से दूर रखने का चक्र भी चलता रहा है। अर्थात् आज तक का इतिहास राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्तर पर स्त्री-विरोधी दुष्चक्रों के निर्माण और अधिकारों से बेदखल कर पुरुष निर्भर बनाते रहने का है। अर्द्धनारीश्वर की कल्पना कर सहयोग और आधे की हकदार का जो तर्क दिया जाता रहा है वह वस्तुत: वास्तविकता में कहीं दिखाई नहीं देता है। इसीलिए अरविंद जैन ने यह कहकर इस भ्रम को तोड़ा है - “अर्द्धनारीश्वर का अर्थ आधी नारी और आधा नर नहीं, बल्कि आधी नारी और आधा ईश्वर है- नर यानी आधी नारी का ईश्वर।”[180]

उस षड्यंत्र का अंदाजा लगाना भी मुश्किल है जो कुछ सवर्ण-पुरुषों ने अधिकांश समाज के खिलाफ किया होगा। उनके घर की स्त्री से लेकर दलित, आदिवासी सभी को ज्ञान और संसाधन से दूर रखने का षड्यंत्र। लेकिन एक विचित्र बात यह भी है कि सवर्ण-पुरुषों के इस षड्यंत्र की सुविधा दलित और किसी-न-किसी रूप में आदिवासी समाज के पुरुषों ने भी उठायी है और अंतत: यह षड्यंत्र पुरुषों के द्वारा किसी भी स्त्री के खिलाफ रचा जाता है। उस समाज ने भी, जिसे स्वयं उनके अधिकारों से वंचित रखा गया, जिन्हें किसी भी सामाजिक हिस्सेदारी से वंचित रखा गया, स्त्रियों के खिलाफ शोषण के इतिहास में शोषक बनकर उपस्थित होता है। और इस रूप में दलित समाज की स्त्रियों के शोषण की दासता और भी भयावह हो जाती है। कंवल भारती ने इसे ही ध्यान में रखते हुए लिखा है- “दलित समाज में महिलाओं को एक गाल पर सवर्ण अहंकार का तो दूसरे गाल पर दलित पुरुष की पितृसत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है।”[181]

प्रेमरंजन अनिमेष ने स्त्री जीवन की सारी गाथा को समेट कर लिखा है -

“दुख है

---

[180] वसुधा : 59-60, अक्तूबर 2003 से मार्च 2004, पृ.सं. 541

[181] दलित विमर्श की भूमिका - कंवल भारती, पृ.सं. 36

दुख का कारण है

कारण को ढूंढ़ना बेकार है

और दुख के साथ जिया जा सकता है।"[182]

क्या स्त्री की कोई स्वायत्तता नहीं? क्या वह केवल पुरुष का मन बहलाने या कि उसकी सेवा-टहल भर के लिए है? ''हव्वा का जन्म आदम का मन बहलाने के लिए हुआ, वह भी उसी की पसलियों की हड्डी से।"[183]

जिस समाज में भ्रूण हत्या से लेकर सती होने का सच 21वीं शताब्दी के बारह वर्षों के बीत जाने के बावजूद मौजूद हो वहाँ दुख भी अपना अस्तित्व पाने से इंकार कर देता है -

"कभी दिख कभी दिख कभी दिख

दुख साँस से निकल कभी दिख''[184]

प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है, स्वभाव है - इच्छाएं रखना, उन्हें पूरी करने का प्रयत्न करना, पूरी होते ही सुख का भागी बनना, लेकिन स्त्री-जीवन को इस तरह से पुरुष जीवन के इर्द-गिर्द बाँधे रखा गया है कि उसकी स्वतंत्र पहचान ही समाप्त हो गयी है। पुरुष के सुख में उसका सुख और पुरुष के दु:ख में ही उसका दुख। घर के सभी पुरुषों के पेट भर जाने पर बचे-खुचे के साथ बसर की जहाँ महान गौरवमयी परंपरा रही हो, इच्छाएँ तो वहाँ भी रही होंगी -

"एक वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर

कम से कम एक बार

भले ही वह जिंदगी में आखिरी बार हो,

अपने मन से एक गीत गाना है मुझे

---

[182] आलोचना : अक्तूबर - दिसम्बर 2000, पृ.सं. 33

[183] स्त्री : उपेक्षिता - सीमोन द बोउवार - प्रस्तुति : प्रभा खेतान, पृ.सं. 139

[184] थपक थपक दिल थपक थपक - गगन गिल, पृ.सं. 59

जिसकी कभी किसी ने फरमाइश न की हो।

जलते रेगिस्तान में ही सही

कम से कम एक बार में

अपने लिए नृत्य करना चाहती हूँ।"[185]

प्रश्न यह उठता है कि आखिर स्त्री के शोषण का क्या कारण है? हजारों वर्षों के शोषण के साथ ही हजारों वर्षों के स्त्री-पुरुष प्रेम का इतिहास भी रहा है। दुनिया का हर समाज ऐसे प्रेम को महिमामंडित भी करता रहा है। क्या सबसे बड़ा सच मनुष्य का यह स्वभाव ही है कि जिसके कारण अपने से कमजोर प्रत्येक का शोषण वह संभव करता आया है। अर्थात मूल बात शक्ति और आधिपत्य की है। संभव है, पुरुष जैविक रूप से देह के स्तर पर स्त्री से मजबूत हो, लेकिन क्या यह कारण बन जाता है, तार्किक आधार बन जाता है हजारों वर्षों की भावना और शोषण का -

"पुरुषों की तरह मुझसे नहीं पूछा गया मेरा नाम

नहीं की गई है कोशिश जानने की मेरा धर्म

उतरवा कर कपड़े नहीं की गई मेरी पहचान

पहनावे के आधार पर दूर से ही चिह्न लिया गया है मुझे

****

रौंदा गया है मेरे आंसुओं को वीर्य तले

दूर कहीं से चलकर आवाज आती है दंगा खत्म हो गया है

सच्ची नहीं लगती मुझे यह आवाज

मुझे नहीं लगता दंगा खत्म हुआ है अभी

ये दंगा कभी खत्म होगा भी नहीं, मेरे और

---

[185] इस पौरुषपूर्ण समय में - कात्यायनी, पृ.सं. 65

मेरी देह के खिलाफ ये दंगा सदियों से जारी है।"[186]

स्त्री के शोषण का एक और महत्वपूर्ण कारण है - उसका गर्भ धारण करना। यह बहुत ही प्राकृतिक और स्वाभाविक प्रक्रिया है। समस्या तब शुरू होती है जब इससे 'रक्त और वंश' की अवधारणा जुड़ जाती है। 'जाति और गोत्र' की अवधारणाएँ जुड़ जाती हैं। तब शुरू होती है स्त्री-यातना का वास्तविक पक्ष। जन्म तय करता है किसी भी व्यक्ति के रक्त, वंश, जाति, गोत्र, धर्म। तब जन्म की शुद्धता अनिवार्य है अर्थात् जब स्त्री गर्भ धारण करे तो यह तय होना चाहिए कि यह गर्भ किस रक्त, वंश, जाति, गोत्र, धर्म का है और सबसे बढ़कर किस पुरुष का है। इसी ने जन्म दिया 'स्त्री की शुचिता की अवधारणा' को। अर्थात् स्त्री बिना सामाजिक स्वीकृति के किसी पुरुष से सहवास न करे और जब विवाह जैसी संस्था के माध्यम से स्वीकृति प्रदान हो जाए तो यह निश्चित किया जाए कि स्त्री का संबंध निश्चित किए गये पुरुष के अतिरिक्त और किसी से नहीं हो। यानी उस निश्चित पुरुष का यह कर्तव्य हो जाता है कि समाज के हित में वह स्त्री पर मर्यादा और बंधनों सभी प्रकार से एक पुरुषगामी बनाकर रखे। कितनी भयावह स्थिति का संदर्भ यहाँ से जुड़ जाता है कि वस्तुत: स्त्री के शोषण का एक पक्ष 'नस्लवाद' से जुड़ता है। 'नस्ल की सुरक्षा' का मुद्दा ही मुख्य है जिसने स्त्री को शोषण और यातना के दरवाजे पर ला पटका। यही कारण है - पहले के युद्धों से लेकर आज के दंगों तक आततायी हिंसक पुरुष सबसे पहले स्त्री को निशाना बनाता है क्योंकि इससे उसे दोहरा सुख मिलता है - यौनिक भी और शत्रु के नस्लीय शुद्धता को नष्ट करने का भी।

इसी शुद्धता की अवधारणा की अगली कड़ी है - उत्तराधिकार का प्रश्न, वारिस का प्रश्न। तब प्रश्न उठता है -वैध उत्तराधिकारी, वैध वारिस, वैध चिता को अग्नि देने वाला। अर्थात् इस वैधता का प्रश्न केवल पुरुष दृष्टि से है, पुरुष के पक्ष में है। इस पुरुष का यह वैध उत्तराधिकारी पुरुष। इस वैधता को आज भी तमाम प्रगतिशील कानूनों के बावजूद वैधता

[186] यह आवाज मुझे सच्ची नहीं लगती, स्त्री मेरे भीतर - पवन करण, पृ.सं. 57-58

मिली हुई है। अरविंद जैन ध्यान दिलाते हैं - "उत्तराधिकार के लिए वैध संतान (पुत्र) और वैध संतान के लिए वैध विवाह होना अनिवार्य है। विवाह-संस्था से बाहर पैदा हुए बच्चे नाजायज, अवैध, हरामी और बास्टर्ड कहे-माने जाते हैं। इसलिए पिता की संपत्ति के कानूनी वारिस नहीं हो सकते। हाँ, माँ की संपत्ति (अगर हो तो) में बराबर के हक़दार होंगे। न्याय की नजर में वैध संतान सिर्फ पुरुष की और अवैध स्त्री की होती है।"[187]

इस प्रकार से पूरे तंत्र को केन्द्रीकृत कर दिया गया है - पुरुष के हितों के इर्द-गिर्द। स्त्री केवल एक माध्यम है, उसकी स्वतंत्रता, उसके व्यक्तित्व, उसकी इच्छा, उसका चुनाव, उसकी आत्मनिर्भरता, उसकी वैधता का प्रश्न फिजूल है। जिस समाज में केवल इसलिए जीवित स्त्रियों को चितायों में जलाया जाता रहा, डायन आदि कह कर मारा जाता रहा क्योंकि वह संपत्ति में हिस्सेदार न बन जाये, उस समाज के पतन की केवल कल्पना भर की जा सकती है। भौतिक वस्तु बनाम जीवित स्त्री में आज तक भौतिक वस्तु को ही वरीयता मिलती रही है। एक पुरुष के लिए वह अधिक उपयोगी है। इस मानसिकता ने पूरे पुरुष वर्ग को एक शोषक-वर्ग में तब्दील कर दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री-विरोधी तमाम परंपराओं, वातावरण, मानसिकता का निर्माता पुरुष है और सभ्यता के विकास से आरंभ होकर हजारों वर्षों में यह पुरुष की प्रवृत्ति बन गयी है। पुरुष के रूप में पैदा होते ही उसे इन तमाम परंपराओं, प्रवृत्तियों, वातावरण, मानसिकता के लिए अनुकूलित किया जाने लगता है और क्रमश: वह अपने जीवन में मनुष्यता से वंचित होकर केवल एक शोषक भर रह जाता है। जिस तरह 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनायी जाती है। उसी प्रकार 'पुरुष भी पैदा नहीं होता, बनाया जाता है'। इसलिए मुक्ति का प्रश्न केवल स्त्री का ही नहीं है, पुरुष का भी है। यदि स्त्री को शोषण से मुक्त होना है तो पुरुष के शोषक चरित्र, शोषक की मानसिकता से। अनामिका ने लिखा है - "पितृसत्तात्मक समाज के शिकार पुरुष भी हैं, क्योंकि दरअसल यह स्त्री और

[187] वसुधा, 59-60, अक्तूबर 2003 से मार्च 2004, पृ.सं. 11

पुरुष, दोनों का विकास अवरूद्ध करता है, दोनों का जीवन विषाक्त करता है, एक को भेड़ और दूसरे को भेड़िया बना डालता है, तो दोनों ही मानवीय गरिमा से नीचे गिरते हैं।"[188]

समकालीन हिंदी कविता में इस पूरी व्यथा और षड्यंत्र को कहीं मार्मिकता तो कहीं आक्रोश के साथ और उसके पूरे इतिहास के साथ उपस्थित है। एक घर स्त्री के जीवन की धुरी होती है। कहा भी जाता रहा है कि एक स्त्री ही घर को घर बनाती है। लेकिन घर के भीतर वह एक स्थायी श्रमिक से ज्यादा कुछ भी नहीं। घर-परिवार की संरचना वास्तव में पुरुष को केन्द्र में रखकर बनायी गयी है, विकसित की गयी है। जहाँ स्त्री हमेशा पुरुष पर निर्भर है, हमेशा पीड़ित है -

> "थकी हुई औरत के चेहरे की सिकुड़नें
> किसी एक परिवार की लंबी मुश्किलों की
> आड़ी सतरें हैं
> उनकी लिखावट कुछ अलग दूसरों से है
> क्योंकि परिवार के पुरखों ने अलग-अलग
> भाषाएँ लिख दी हैं।"[189]

और इसलिए एक स्त्री चाहती है कि -

> "दरअसल इस पूरे घर का
> किसी दूसरी भाषा में
> अनुवाद चाहती हूँ मैं"[190]

कौमार्य, शुचिता या विरासत, श्रम कोई भी मुद्दा हो, सवाल सामने आ जाता है, स्त्री के देह का। देह स्त्री की है लेकिन उस पर अधिकार पुरुष का है। जन्म के साथ ही किसी

---

[188] कविता में औरत - अनामिका, पृ.सं. 11
[189] एक समय था - रघुवीर सहाय, पृ.सं. 152
[190] अनुष्टुप - अनामिका, पृ.सं. 45

अनजान पुरुष के नाम उसकी देह कर दी जाती है जो भविष्य में उसका मालिक होगा। और इस बीच उसके संबंधी कुछ पुरुष अन्य परपुरुषों से उसके देह की रक्षा करेंगे। इन अनेक उपायों के बावजूद स्त्री की देह को सवालों का, पुरुष के संदेह का सामना करना पड़ता है। सीता की अग्निपरीक्षा कभी न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है, पुरुष मानसिकता की एक अनिवार्य परिणति-

> "एक औरत नाक से बहता खून पोंछती हुई बोलती हैं
> कसम खाती हूँ, मेरे अतीत में कहीं नहीं था प्यार,
> वहाँ था एक पवित्र, शताब्दियों लंबा, आग जैसा धधकता सन्नाटा
> जिसमें सिंक रही थी सिर्फ आपकी ख़ातिर मेरी देह....."[191]

यही कारण है कि स्त्री मुक्ति के प्रश्न को देह-मुक्ति से भी जोड़ा जाता रहा है अर्थात् स्त्री की देह पर स्त्री के स्वयं का अधिकार निहायत जरूरी है और साथ में इस देह की मुक्ति या देह पर अधिकार को एक व्यापक संदर्भ में देखने की भी आवश्यकता है - "आप सोचकर देखिए स्त्री-शोषण का प्राइम साइट उसकी देह ही रही है। मार-पीट, गाली-गलौज, बलात्कार, दूसरी तरह के क्रमिक यौन-शोषण, भावहीन-यांत्रिक संभोग, पर्दा, डायन-दहन, सती, पोर्नोग्राफी, पण्यीकरण, घरेलू बेगार, यूज एंड थ्रो की मनोवृत्ति, साफ-सुथरे, सुरक्षित प्रसव का अभाव - सबका आधार सब प्रताड़णाओं का आधार स्त्री की देह है। उसी अर्थ में 'स्त्री-मुक्ति' को देह-मुक्ति से जोड़ा जाता है, मगर कितनी बड़ी विडम्बना है यह कि 'देह' कहते ही लोगों के सामने औरत की निर्वस्त्र देह आ जाती है - एक चारे की तरह फेंकी हुई। स्त्री श्रम का, प्रोडक्शन, रिप्रोडक्शन का, स्त्री-बुद्धि, उसके मन का ध्यान अब तक किसी को नहीं आता ....देह-मुक्ति का अभिप्राय यौन-संबंध के लिए हर वक्त प्रस्तुत मादा-भाव में आना बिल्कुल

[191] रात में हारमोनियम - उदय प्रकाश, पृ.सं. 31-33

नहीं है, देह मुक्ति का अर्थ है कि बौद्धिक और मानसिक विकास के लिए स्त्री-देह फुर्सत पाए और सम्यक अवसर, सम्यक सुविधाएँ भी।"[192]

पुरुष के लिए स्त्री की देह केवल उसके शरीर का अर्थ पा सकता है। उसके हृदय को, उसके मर्म को छूने की अभिलाषा पुरुष में नहीं होती। ऐसा इसलिए कि पुरुष ने स्त्री को कभी भी सहभागिनी नहीं समझा, हमेशा दासी ही समझा जिसका किसी भी प्रकार से किसी भी समय इस्तेमाल किया जा सकता है। यह पारिवारिक-सामाजिक संरचना की शोषणपरक निर्मित ही है जिसमें एक पुरुष कह सकता है-

"मैं उसे प्रेम नहीं करता था

मैं उसे पाना चाहता था

दरअसल मैं उसकी देह को पाना चाहता था

मैं उसकी देह को गंडेरी की तरह चाहता था चूसना

मैं उसे अपने मुँह में भरकर

शक्कर के दानों की तरह चबाना चाहता था।"[193]

लेकिन शोषण और प्रवंचना के हजारों साल के इतिहास के बावजूद स्त्री की आकांक्षाओं को, जीने की लालसा को, स्वाधीन-स्वावलंबी होने की लड़ाई को रोक नहीं पाया। इसीलिए स्त्री अपने-आप को केवल देह नहीं समझती, एक मानवीय इयत्ता समझना चाहती है। स्त्री के लिए देह का अर्थ आसमान जितना फैला है -

"बाबुल ने काट दिए पंख

---

[192] सामयिक मीमांसा - अनामिका, अंक 1, अप्रैल-जून 2008, पृ.सं. 32

[193] स्त्री मेरे भीतर - पवन करण, पृ.सं. 34

उड़ न जाऊँ कहीं साँझ-सकारे

रैन-अँधियारे

इस खतरनाक बियाबान में

----अभिव्यक्ति का वर देने को

तैयार हुए गुरु

हृदय की गुरु-दक्षिणा की शर्त पर

वही हृदय

जहाँ मेरा आसमान कैद था।"[194]

वर्तमान भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री के साथ और भी विडम्बना जुड़ जाती है। उसे उसका आसमान दिए जाने का भ्रम पैदा किया जाता है, लेकिन उस भ्रम का लाभ फिर पुरुष अपनी जरूरतों के मुताबिक बदले हुए रूपों में शोषण के नये औजारों, तरीकों के साथ उसके सामने आता है। यह समय स्त्री के मुक्त हो जाने, स्वावलंबी, सक्षम हो जाने, प्रतिस्पर्धी हो जाने, पुरुष के समकक्ष हो जाने के नारों और शोर का समय है, लेकिन है यह सच से कोसों दूर। वस्तुत: इस अर्थ केन्द्रित समय में प्रत्येक व्यक्ति शोषण के एक जटिल एवं भयावह और कहीं वृहत दुष्चक्र में फंसा हुआ महसूस कर रहा है। आर्थिक संपन्नता और सुविधाओं के अंबार के बावजूद इकाई स्तर पर व्यक्ति पहले से कहीं अधिक नि:सहाय और परनिर्भर हो गया है। किसान से लेकर धनाढ्य लोगों तक में बढ़ती आत्महत्या की प्रवृत्ति में इसके गहरे संकेत मौजूद हैं। स्त्री के संदर्भ में भी इस बाजारवादी व्यवस्था ने मुक्ति और आत्मनिर्भरता के भ्रम में वस्तुत: शोषण की प्रक्रिया को चालू रखा है और फिर वहीं स्त्री की देह ही शोषण का 'प्राइम साइट' है।

"राजपुरुषों-श्रेष्ठियों-अभिजनों के आमोद-प्रमोद के लिए

---

[194] जादू नहीं कविता - कात्यायनी, पृ.सं. 87

प्रशस्त राजमार्ग या नगर की जनसंकुल वीथियों से
पुष्प सज्जित यान पर आरूढ़ गुजरते हुए
अपनी मात्र एक झलक से कामातुर नागरिकों के हृदय को
उन्मत्त कर देने के लिए।"[195]

सौंदर्य प्रतियोगिताओं से लेकर विज्ञापनों, फिल्मों के आइटम सांग और दर्शकों को उत्तेजित करती चीयर लीडर्स, धनपतियों के लिए स्कार्ट्स, प्रत्येक स्थान पर स्त्री की देह और पुरुष के व्यभिचारी मन का ही आमना-सामना है और इसमें 'पुरुष' फिर विजेता और लाभार्थी है। यह सच है कि आज स्त्रियाँ पहले की तुलना में अधिक शिक्षित, अधिक रोजगारयुक्त और अधिक अवसरों एवं विकल्पों से युक्त है। स्त्री संबंधी कई रूढ़ मान्यताएँ टूट चुकी हैं, वे लड़ाकू-पायलट से लेकर युद्ध क्षेत्र में तैनात तक हो रही हैं, बड़ी-बड़ी कंपनियों की मुखिया हैं तो कई राष्ट्रों की राष्ट्राध्यक्ष तक। कल्पना चावला से लेकर बछेन्द्री पाल परिवर्तन की जीती-जागती उदाहरण हैं। लेकिन इस सच के भी कुछ और सच हैं। एक तो ऐसी स्त्रियों की संख्या आज भी अपनी आबादी की तुलना में नगण्य हैं - "दुनिया की संपूर्ण श्रम शक्ति में 45 फीसदी औरतों का हिस्सा है और भूमंडलीकरण से निकली-----'पॉवर वूमैन'------करोड़ों औरतों के एक प्रतिशत का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती।"[196]

और जो किसी तरह तमाम मुश्किलों का सामना कर पुरुषों से प्रतिस्पर्धा कर रही हैं, चुनौतियाँ दे रही हैं, उनकी भी सच्चाई कई परतों के नीचे है -

"अच्छा है मुक्त हो रही हैं
मिल सकेंगे स्वच्छंद अब,

[195] इस पौरूषपूर्ण समय में - कात्यायनी, पृ.सं. 63

[196] आज की कविता - अभय कुमार दुबे (मूल पुस्तक - भारत का भूमंडलीकरण), विनय विश्वास, पृ.सं. 169

संभोग के लिए।"[197]

बाजार उसे सशर्त ही स्वीकारता है क्योंकि बाजार जानता है कि वह उसे प्रोडक्ट को बेचने में अतिरिक्त रूप से लाभ दे सकती है। एक सुंदर, मुस्कराती, सजी-सँवरी स्त्री अपने तिलिस्म से बाजार के तिलिस्म, उसके छद्म को ढँक लेगी। वह निरावृत्त होकर उस पर आवरण डाल देगी -

"कि आलीशान दुकान में सामान बेचती
एक दुबली-सी लड़की
जो कुछ सोचती हुई-सी बैठी थी
एक दिन एक ग्राहक के सामने मुस्कराना भूल गई
शाम को उसे नौकरी से अलग कर दिया गया।"[198]

बाजार और मीडिया ने स्त्री की केवल दो छवियों को ही निर्मित किया है। या तो अत्यंत घरेलू, पारिवारिक या फिर अत्यंत कामुक, नग्न। इन दोनों ही छवियों का संबंध पुरुष मानसिकता के तुष्टीकरण से है। प्रत्येक पुरुष घर के भीतर एक आज्ञाकारी, घरेलू किस्म की पत्नी चाहता है जो उसके माता-पिता की सेवा-टहल करे, बच्चों की परवरिश करे, भोजन बनाये और वो तमाम कार्य करे जो उसे घर के भीतर सुकून दे। और दूसरी तरफ घर के बाहर प्रत्येक स्त्री उसके व्यभिचारी मन की तुष्टि के लिए तरह-तरह से नग्नता का प्रदर्शन करे। एक स्वतंत्र स्त्री छवि की कल्पना, पुरुष और उसको तुष्ट करता पूरा समाज-बाजार तंत्र, कर ही नहीं सकता। अगर किसी स्त्री ने कोशिश की तो पुरुष-वर्चस्व वाला यह पूरा तंत्र उसकी पराजय की जुगाड़ में लग जाता है और पराजित होने पर दोगुना आनंद मानो प्राप्त करता है-

''वे

[197] वसुधा - स्त्री मुक्ति का सपना -सविता सिंह,अंक 59-60, अक्तूबर 2003 - मार्च 2004 पृ.सं. 145

[198] हम जो देखते हैं - मंगलेश डबराल, पृ.सं. 76

"हमें
हमारे वज़ूद की
याद दिलाते हैं।
एहसास कराते हैं
एक वज़ूद वाली औरत को
प्यार करने का,
उस पर काबू पाने का
मजा ही कुछ और है।"[199]

इस तरह आज के समय में स्त्रियाँ शोषण के दोहरे दुष्चक्र का शिकार हैं। एक तरफ तो घर ही है जो उसकी सुरक्षा और जरूरतों के नाम पर शोषण की चारदीवारी निर्मित करता है -

"औरतें यहाँ नहीं दिखतीं
वे आटे में पिस गई होंगी
या चटनी में पुदीने की तरह महक रही होंगी
वे तेल की तरह खौल रही होंगी उनमें
घर की सबसे जरूरी सब्जी पक रही होगी
तिलचट्टों-सी वे कहीं घर में दुबकी होंगी वे
घर में ही होंगी
घर के चूहों की तरह वे
घर छोड़कर कहाँ भागेंगी।"[200]

---

[199] जादू नहीं कविता - कात्यायनी, पृ.सं. 97

[200] समकालीन हिंदी कविता - देवी प्रसाद मिश्र, सं. अरविन्दाक्षन, पृ.सं. 120-121

और कई बार तो घर इस सुरक्षा और जरूरत की शर्त भी पूरी नहीं कर पाता क्योंकि वास्तविकता यही है कि घर-परिवार संस्थाओं की आधारभूत संरचना ही स्त्री-विरोधी है। स्त्री के श्रम और देह को स्थायी रूप से सुरक्षित बनाने का षड्यंत्र परिवार के नाम पर चलता रहा है। यह प्रक्रिया इतने सुनियोजित रूप से चलाया गया है कि स्वयं स्त्री भी इस पराधीनता को स्वाभाविक मानने की अभ्यस्त हो गयी है। इस अभ्यास के साथ ही स्त्री का मन भी है जो -

"एक औरत का कलेजा जो छिटककर बोरे से बाहर गिर गया है
कहता है - मुझे फेंककर किसी नाले में जल्दी लौट आना
बच्चों को स्कूल जाने के लिए जगाना है
नाश्ता उन्हें जरूर दे देना, आटा मैं गूँथ आई थी।"[201]

तो दूसरी तरफ घर के बाहर बाजार में उसे गोश्त से अधिक नहीं समझा जाता। जिसकी केवल किसी अन्य सामान को बेचने में भूमिका है। लेकिन विडम्बना यही है कि इस क्रम में स्त्री खुद बिक जाती है -

"विज्ञापन में स्त्री
गोश्त की दुकान पर जैसे
चिड़ियों की तस्वीरें।"[202]

स्त्री की प्रतिबद्धता और लगाव को, घर या घर के बाहर - दोनों ही जगह, उसकी कमजोरी मानी गई। उसकी क्षमताओं, आकांक्षाओं, संवेदनाओं, आत्मसम्मान को हर जगह दरकिनार कर उसे केवल देह का पर्याय बनाया जाता है। क्या यह अकारण है कि 21वीं सदी के पहले ही दशक में एक तरफ 'घरेलू हिंसा' के खिलाफ कानून बनाना पड़ता है तो दूसरी

---

[201] रात में हारमोनियम - उदय प्रकाश, पृ.सं. 31-33

[202] समकालीन भारतीय साहित्य - प्रेमरंजन अनिमेष, मई-जून 2005, पृ.सं. 156

तरफ 'कार्य स्थल पर यौन-उत्पीड़न' के खिलाफ। इसलिए स्त्री का संघर्ष अनिवार्यत: उस पुरुषवादी मानसिकता है जो उसके स्वतंत्र-व्यक्तित्व के विकास में सबसे बड़ा बाधक है।

समकालीन हिंदी कविता और स्त्री के संदर्भ में एक और पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है - वह है दलित स्त्रियों की यातना और संघर्ष का। यद्यपि प्रत्येक स्त्री जिस मूलभूत समस्या से पीड़ित है और जिसके खिलाफ उनका संघर्ष है वह है पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था और पुरुषवादी सोच। इसी समाज व्यवस्था ने लगभग आधी आबादी को स्वतंत्र-व्यक्तित्व विकास के तमाम अवसरों से काटकर गुलामों जैसी स्थिति में जीने के लिए अभिशप्त कर दिया है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था ने स्त्री को पुरुष के समकक्ष और समान रूप से मनुष्य का दर्जा देने से हमेशा से इंकार किया है। लेकिन स्त्रियों की इस आबादी में दलित स्त्रियों का पक्ष थोड़ा अलग है। उनका जीवन 'दोहरे अभिशाप' का शिकार है। एक ओर पितृसत्तात्मक-समाज व्यवस्था की वह शिकार तो किसी भी अन्य स्त्री की तरह है ही, साथ ही दलित होने के कारण जाति भेदभाव का दंश भी सहना पड़ता है। वर्तमान समय में आधुनिक सोच, शिक्षा के प्रसार, जागृति, स्त्री-आंदोलनों आदि के कारण सवर्ण-वर्ग की स्त्रियों की स्थिति में कुछ बदलाव आने शुरू हुए हैं। यद्यपि यह प्रतिशत भी बहुत ही नगण्य है। लेकिन यह परिवर्तन दलित-समाज की स्त्रियों तक नहीं पहुँच पा रहा है। दलित समाज की स्त्रियों के जीवन का सबसे कटु सत्य है कठोर श्रम। वे मूलत: श्रमिक स्त्रियाँ हैं और उनके परिवार के पालन-पोषण में उनके श्रम की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। स्थिति तो इतनी भयावह है कि एक दलित परिवार के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि बच्चों, के भी कठोर श्रम करने के बावजूद अन्य न्यूनतम आवश्यकताएँ तो दूर भोजन भी मुश्किल से संभव हो पाता है। बाल-श्रम का मुद्दा भी इसी दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। दलित-स्त्री को इसी श्रम के लिए घर की चौखट - लक्ष्मण रेखा - को पार करना पड़ता है और इस तरह वह घर के पुरुषों के साथ-ही-साथ अन्य पुरुषों की आसान शिकार हो जाती हैं। जिस भारतीय समाज-व्यवस्था ने स्त्री को कोमलांगी,

संरक्षण योग्य, असूर्यपश्या बना दिया, जिसके लिए शुचिता की रक्षा ही जीवन का पर्याय हो गया, वहाँ दलित समाज की स्त्रियों के लिए यह मान्यताएँ महत्व की नहीं थीं। इस आधार पर तो यह बात पुष्ट होती है कि दलित-समाज की स्त्रियों को भारतीय समाज-व्यवस्था ने अपना अंग कभी नहीं माना।

दूसरी तरफ डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों का जो प्रभाव दलित समाज के पुरुषों पर पड़ा और उन्हें संघर्ष के लिए तैयार किया वह प्रभाव दलित-स्त्रियों पर उस रूप में नहीं पड़ा। उनमें जागृति काफी विलंब से आयी। "डॉ. अम्बेडकर का आंदोलन भी सत्तर के दशक में ही हिन्दी क्षेत्र में उभरा या कहना चाहिए कि जिसे हम क्रांतिकारी दलित-जागरण कहते हैं, उसका उदय हिंदी प्रदेशों में सातवें दशक के बाद ही हुआ। इस जागरण ने भी जितना पुरुषों को शिक्षित और संगठित किया, उतना स्त्रियों को नहीं किया। कारण यह भी है कि अम्बेडकर मिशन के प्रचारकों ने अपनी स्त्रियों को जागरुक करने की आवश्यकता पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया।"[203]

इसमें कोई संदेह नहीं कि कई अर्थों में -

"औरत औरत होती है
उसका न कोई धर्म
न कोई जात होती है।"[204]

लेकिन इसके साथ ही कई ऐसे यातनाओं के संदर्भ भी हैं जो स्त्री-स्त्री में अंतर पैदा कर देते हैं, जो सामाजिक संरचना की स्थायी निधि है और जो यहाँ भी उपयोगी है- एक स्त्री और दूसरी स्त्री में भेद करने के लिए। एक दलित स्त्री जीवन भर इस रहस्य को ही नहीं समझ पाती कौन-सा कष्ट बड़ा है - स्त्री होना या दलित होना -

---

[203] दलित कविता का संघर्ष- कंवल भारती, पृ.सं. 244

[204] पदचाप - रजनी तिलक, पृ.सं. 39

“एक भंगी तो दूसरी ब्राह्मणी
एक डोम तो दूसरी ठकुरानी
दोनों सुबह से शाम खटती हैं
बेशक एक, दिन भर खेत में
दूसरी घर की चारदीवारी में
शाम को एक सोती है बिस्तर में
तो दूसरी काँटों पर।
प्रसव-पीड़ा झेलती फिर भी एक सी
जन्मती है एक नाले के किनारे
दूसरी अस्पताल में।
एक पायलट है
तो दूसरी शिक्षा से वंचित है,
एक सत्तासीन है
तो दूसरी निर्वस्त्र घुमायी जाती हैं।
औरत औरत में भी अंतर है।”[205]

रजनी तिलक ने अपनी कविता संग्रह ‘पदचाप’ के ‘आत्मकथ्य’ में इसका उल्लेख भी किया है - “मैं कविताएँ मेरी उस दुनिया का हिस्सा हैं, जिसे मैंने क्षण-प्रतिक्षण जिया और महसूस किया है।”[206]

दलित-स्त्री श्रम करती है, उस श्रम के स्वरूप में तो जाति-दंश है ही उसके कई अन्य पहलू भी हैं उसे उसके कठिन श्रम के बावजूद आमदनी की समस्या से गुजरना पड़ता है।

---

[205] पदचाप - रजनी तिलक, पृ.सं. 41
[206] पदचाप - रजनी तिलक, पृ.सं. v

इसका भुक्तभोगी उसका परिवार बनता है। उसके बच्चों को विशेषकर भुगतना पड़ता है। शिक्षा एवं अन्य सुविधाओं की तो बात ही अकल्पनीय है वह उनका पेट भी ठीक से नहीं भर पाती है -

> "झाड़ू लिये निकल पड़ती है; मैला ढोती
> साफ करती है और लौटकर उन नन्हों को भूख से लड़ते
> रोते-बिलबिलाते मैले-कुचैले से
> गठरी बन सोते पाती है।"[207]

कई बार तो मातृत्व और बाल श्रम का भेद ही मिट जाता है अगर बाल-श्रम के आंकड़ों पर गौर किया जाए तो निस्संदेह उनमें अधिकांश दलित-परिवारों से संबंधित होंगे। अपने जीवन-यापन के लिए पूरे परिवार को, बच्चों सहित, श्रम करना पड़ता है। उन्हें बचपन का लाड़ प्यार नहीं मिलता, उन्हें अपनी जिम्मेदारी स्वयं उठानी पड़ती है -

> "कचरा बीनने वाली
> लड़कियाँ हैं जो खुद ही
> अपनी माँ होती हैं।"[208]

एक दलित स्त्री का मातृत्व कठिन श्रम के बावजूद अतृप्त ही रह जाता है। आर्थिक सुरक्षा दलित स्त्री के सामने एक बड़ा प्रश्न चिह्न है। सवर्ण-स्त्रियों के सामने भी आर्थिक-स्वावलंबन का प्रश्न है लेकिन निर्धनता और भूख की समस्या से दो चार नहीं होना पड़ता है। उनका सवर्ण दंभी पुरुष कम-से-कम उसे पालता है और सुरक्षा भी प्रदान करता है। लेकिन एक दलित पुरुष इसमें सक्षम नहीं हो पाता है। चाहे या न चाहे परिवार के भरण-पोषण के लिए उसके घर की स्त्रियों को बाहर निकलना पड़ता है। लेकिन कम-से-कम यहाँ दलित-पुरुष अपनी

---

[207] आज की कविता - अनीता भारती, विनय विश्वास, पृ.सं. 171

[208] आज की कविता - भगवत रावत, पृ.सं. 171

स्त्रियों के दु:ख में सहभागी तो हो ही सकता था, इतनी अपेक्षा तो दलित-स्त्री अपने पुरुष समाज से तो कर ही सकती है लेकिन उसे यहाँ भी निराशा ही हाथ लगती है-

"गूँजती है आवाज सब दिशाओं में
मुझे अनन्त असीम दिगन्त चाहिए
छत का खुला आसमान नहीं
आसमान की खुली छत चाहिए
मुझे अनन्त आसमान चाहिए।"[209]

एक दलित-स्त्री के समक्ष कोई भी समस्या एक आयामी नहीं है, बहुआयामी है और इसलिए प्रश्न भी -

"अधिकतम कितना मूल्य है
एक निरीह महिला को
सरेआम नंगा करने का?
कब मिलेगा पशुतुल्य मानव को अधिकार?
कब बदलेंगे कर्मकांड
कब मिलेगा सामाजिक न्याय?"[210]

इसलिए एक दलित-स्त्री के लिए इस समाज व्यवस्था का कोई अर्थ नहीं है। उसे उस समाज व्यवस्था में जगह नहीं चाहिए लेकिन उसके स्वर में कहीं भी पलायन नहीं है। अपने शोषण के लम्बे इतिहास के कारण वह जानती है कि इस समाज-व्यवस्था में सुधार या स्त्री के हित में बदलाव संभव नहीं। वह जानती है कि यह इस संरचना की यह मूलभूत कमी है इसीलिए वह आमूल परिवर्तन का स्वर उठाती है -

---

[209] तुमने उसे कब पहचाना - सुशीला टाकभौरे, पृ.सं. 86
[210] तुमने उसे कब पहचाना - सुशीला टाकभौरे, पृ.सं. 32-33

"संजय यह कौन-सा समाज है
बरसों से ठहरा है
दया और ग्लानि की जमीन पर
बरसों से
उसके पैरों में वही है
और सिर पर भी वही है
त्याज्य अपवित्रता का बोझ
कोई परिवर्तन नहीं?"[211]

लेकिन कभी भी वह उस स्वर की विश्वसनीयता से समझौता करती नहीं दिखती है। क्योंकि वह जानती है कि शोषण के दुष्चक्र की सच्चाई यही है कि जो शोषक है वही हितैषी बनने का ढोंग करता है। स्त्री इस छद्म को पहचानती है क्योंकि वह अब समझ गयी है कि यह भी एक प्रयत्न है, युक्ति है जिससे प्रतिरोध का स्वर उभर नहीं पाए या मंद पड़ जाए -

"कौन है वो
नारी-सी जिल्लत झेली नहीं
दलित-उत्पीड़न सहा नहीं
महसूस करते हैं हो भाव विभोर
मार्मिक कविताएँ लिखते हैं
मैं हैरान हूँ
उन्होंने हमारे दर्द
गीतों में पिरोये कैसे?"[212]

---

[211] यह तुम भी जानो - सुशीला टाकभौरे, पृ.सं. 8
[212] पदचाप - रजनी तिलक, पृ.सं. 6

इसलिए परिवर्तन और विश्वसनीयता इन दोनों ही बिंदुओं पर इनकी नजर इतिहास पर जाती है और वह पाती है कि पुरुष ने ही सारे विधान बनाये, तंत्र खड़ा किया, धर्म-नीति की बातें की लेकिन उसमें उसकी हिस्सेदारी नहीं दी गयी। पूरे मानव-सभ्यता के निर्माण और विकास में उसका बराबर का श्रम रहा है लेकिन उसे उसके अधिकार से वंचित रखा जाता रहा है इसीलिए वह घोषणा करती है -

"किसने की थीं यहाँ की रचनाएँ
धर्म-नीति समाज की बातें
क्यों रह गया सब एकांगी
यह इतिहास अधूरा है।"[213]

शबरी की गाथा धर्म-ग्रंथों और महाकाव्यों तक सीमित है, समाज उस पर कभी भी व्यवहार नहीं करता। इसलिए उन तमाम धर्म-ग्रंथों और चिंतन-ग्रंथों को नकारा जाना आवश्यक है जो झूठे हैं -

"अगर बन जाऊँ मैं
सनातन परम्परा को तोड़ने हेतु
तुम्हारे लिए अभिशाप
गहरे कुएँ तक पहुँचा दूँ
तुम्हारे चिंतन के आधार ग्रंथ।"[214]

नकारने का यह क्रम वर्तमान समय तक खींच कर आता है। उस वर्तमान तक जिसे एक आजाद मुल्क का कहा जाता है, लेकिन जिसकी आधी आबादी आज भी परतंत्र है। इसीलिए वह दूसरी ओर पूर्ण आजादी की बात करती है -

---

[213] यह तुम भी जानो - सुशीला टाकभौरे, पृ.सं. 52
[214] तुमने उसे कब पहचाना - सुशीला टाकभौरे, पृ.सं. 20

"मेरे प्यारे देश, हम तुम्हें

फिर से आजाद करायेंगे।"[215]

किसी भी स्त्री, विशेषकर दलित स्त्री के लिए इतिहास की तमाम गौरवमयी परंपरा से लेकर आजादी तक झूठी है क्योंकि सब उनकी गुलामी से समझौता करते रहे। इतिहास हो या वर्तमान सारी व्यवस्थाओं का निर्माण या संचालन पुरुष के हितों के अनुरूप ही होता रहा है, हो रहा है। समकालीन कविता इसकी पहचान भी करती है और उस संघर्ष को आवाज भी देती है जो अब अविलम्ब और अनिवार्य हो गयी है समाज व्यवस्था के ढांचे के बने रहने के लिए। इस पूरे संदर्भ में समकालीन हिंदी कविता का स्वर मुक्ति का स्वर है -

"लेकिन वह जीवन से मृत्यु नहीं

मृत्यु से जीवन के लिए भाग रही थी

खूँटे से बँधी बछिया-सी जहाँ तक रस्सी जाती, भागती

गर्दन ऐंठने तक खूँटने को डिगाती

वह बार-बार भागती रही

बार-बार हर रात एक सपना देखती

ताकि भूल न जाए मुक्ति की इच्छा

मुक्ति न भी मिले तो बना रहे मुक्ति का स्वप्न

बदले न भी तो जीवित बचे बदलने का यत्न।"[216]

स्त्री अपनी मुक्ति से अब किसी भी स्थिति में समझौते के लिए तैयार नहीं हैं अगर चीजें नहीं बदलीं तो वह नये रास्तों की तलाश कर सकती है। वह पुरुष का हृदय अगर नहीं बदल सकी तो वह पुरुष के बगैर भी अधिक स्वावलंबी जीवन की कल्पना कर सकती है -

---

[215] पदचाप - रजनी तिलक, पृ.सं. 18

[216] पुतली में संसार - अरुण कमल, पृ.सं. 25-26

"तुम्हारा न होना ही मेरे प्रेम का स्वाद है

मेरी रोटी अभाव की आँच में पकती है।"[217]

IV. दलित

लीलाधर मंडलोई से बातचीत करते हुए कुंवर नारायण ने समकालीन कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि इन शब्दों में बताई -"मैं समझता हूँ जिस तरह कई संदर्भों में सरोकार विकसित हुए हैं, वे सबसे बड़ी उपलब्धि है। दुनिया की सभी कविताओं को देखता हूँ और अपनी कविता को सामने रखकर यह पाता हूँ कि जितने विविध इतिहास, समस्याओं और प्रभावों को यह आत्मसात करती है, वह सचमुच आश्चर्य की बात है। एक और बात जोड़ूँगा कि समकालीन कविता ने हमारा ध्यान जिस तरह से उपेक्षित वर्ग की तरफ मोड़ा है यह बहुत बड़ी बात है।"[218]

यह उपेक्षित वर्ग कौन-सा है? निस्संदेह यह वर्ग किसानों, श्रमिकों, दलित-आदिवासियों, स्त्रियों से मुख्य रूप से निर्मित होता है। इसके इतर वृद्ध, शारीरिक रूप से विकलांग आदि अनेक लोग भी इस वर्ग की परिधि में गिने जा सकते हैं। लेकिन इनमें भी अगर भारतीय सामाजिक संरचना का सबसे भयावह दंश किसी ने भोगा है तो वह है दलित समाज। किसी भी प्रकार के मानवीय गरिमा से विमुख कर अपने ही समान मनुष्य को सदियों तक भीषण शोषण का शिकार बनाये रखने का उदाहरण शायद कहीं नहीं मिलता। भारतीय समाज की सबसे बड़ी सच्चाई अगर है तो वह है वर्ण व्यवस्था। वर्ण-व्यवस्था अर्थात जन्म के आधार पर ही, जिस पर किसी भी व्यक्ति का वश नहीं होता, चुनाव नहीं होता, समाज का दोयम नागरिक घोषित कर देना और ताउम्र उसमें किसी भी बदलाव की कोई भी गुंजाइश नहीं होने देना -अपने आप में कैसी भयावह स्थिति है; इसकी कल्पना भी मुश्किल है। इसमें कोई संदेह

---

[217] लो कहा साँबरी - तेजी ग्रोवर, पृ.सं. 47

[218] वर्तमान साहित्य : शताब्दी कविता विशेषांक, मई-जून 2000, पृ.सं. 502

नहीं कि वस्तुत: यह कुछ वर्चस्व वाले लोगों का षड्यंत्र ही रहा होगा कि कैसे समाज के बहुसंख्य आबादी को तमाम संसाधनों और संपदाओं से अलग रखा जाये। धर्म की सहायता से इसे वह स्थायित्व दिया गया कि आज भी तमाम ज्ञान-विज्ञान की प्रगति, आधुनिकता, प्रगतिशीलता, आजादी के साठ से ऊपर वर्ष, आंदोलन, जागरूकता के बावजूद यह समाप्त होने का नाम नहीं ले रहा है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा है - "सभी लोग जाति-व्यवस्था के दास हैं लेकिन सभी दासों का दरजा बराबर नहीं है।"[219]

अर्थात् जाति-व्यवस्था एक मानसिक दासता है। वस्तुत: इस विचार का तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति हो जो जाति-व्यवस्था का पालन करता है, विवेकवान नहीं है। प्राकृतिक सच्चाई के वजूद को मानने से इंकार कर इस सच्चाई में विश्वास करता है जो परंपरा से उपर स्वार्थवश थोपा गया है। जो दमित-समाज है वह तो इसकी दासता से मुक्ति के लिए प्रयासरत भी है क्योंकि वही इस व्यवस्था का शोषित या भुगतने वाला पक्ष है लेकिन जो सवर्ण-समाज है वह इससे मुक्ति के बजाय नये-नये रूपों में इससे अधिकाधिक ग्रस्त होता जा रहा है। वस्तुत: फिर वही सच्चाई सामने आती है कि सवर्ण-समाज आज भी संसाधनों में हिस्सेदारी के लिए तैयार नहीं है जिसे वह अपनी मिल्कियत समझने का आदी हो गया है। वस्तुत: वह बहुसंख्यक शोषित दलित एवं पिछड़े समाज का हिस्सा है जिसे हजारों वर्षों में अपने पक्ष में जमा करता रहा है -

"रामराज चला गया
पर शंबुक की चीख अभी बाकी है
जैसे दलितों की पीठ पर
चोट के निशान।"[220]

---

[219] जाति क्यों नहीं जाती - सुभाष चन्द्र, पृ.सं. 52
[220] दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र - मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं. 82

कान्ति मोहन इसी कारण अछूत समस्या के आर्थिक कारणों पर विचार करते हैं - “अछूत प्रथा भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के संबंध स्थापित होने के बाद ही अस्तित्व में आई होगी। सामाजिक ऊँच-नीच का भाव अभिन्न रूप से आर्थिक ऊँच-नीच के भाव से जुड़ा है और आर्थिक ऊँच-नीच के भाव के मूल में भूमि का स्वामित्व और भूमिहीनता है।”[221]

समकालीन हिंदी कविता में कई कवियों ने लेकिन इतिहास को दुहराने का नहीं, पलटने का प्रयत्न किया है। उनकी कविता इतिहास से वर्तमान तो कभी वर्तमान से इतिहास की यात्रा करती दिखती है। यातना और उससे उपजे क्रोध दोनों को संभालती यह कविता शौक या आनंद से नहीं बल्कि जरूरत से जन्म लेती है। “मैं नहीं जानता कि मैं कविता क्यों लिखता हूँ? हाँ, इतना अवश्य जानता हूँ कि जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-छात, पाखण्ड, शोषण और अत्याचार का शिकार जब मैं स्वयं होता हूँ या किसी सहोदर को होते देखता हूँ तो मेरे अंदर कुछ उबलने लगता है; कुछ घुमड़ने लगता है; जिसे मैं शब्दों में पकड़ने की कोशिश करता हूँ - अस्तु मेरी कविताएं मेरी भोगी हुई यातनाएं हैं।”[222]

“ओ परमेश्वर ।
कितनी पशुता से रौंदा है हमें
तेरे इतिहास ने।
देख, हमारे चेहरों को देख
भूख की मार के निशान
साफ दिखाई देंगे तुझे।”[223]

यातना तो है, लेकिन उससे अधिक मुक्ति की छटपटाहट, संघर्ष की तैयारी और उसके लिए आवश्यक साहस भी। कवि चाहता है कि दासता और शोषण की यह परंपरा रूके और उसे

---

[221] प्रेमचंद और अछूत समस्या - कांतिमोहन, पृ.सं. 5

[222] सुनो ब्राह्मण (भूमिका) - मलखान सिंह,

[223] आखिरी जंग - मलखान सिंह, सुनो ब्राह्मण, पृ.सं. 26

रोकने में कविता उसका जरिया बने - “कविताएं पढ़ने के बाद यदि आपके अंदर कुछ कुलबुलाने लगे, उबलने लगे, घुमड़ने लगे, टूटने लगे पुराना और नया जुड़ने लगे, तो मैं अपने सृजन को सार्थक समझूंगा।”[224]

कवि इसके लिए इतिहास की यात्रा करता है। उन स्रोतों की तलाश करता है जहाँ से इसके शोषण की शुरूआत हई थी। वह वर्तमान में लौटता है और चेतावनी देता है -

“तो सुनो वशिष्ठ!
द्रोणाचार्य तुम भी सुनो!
हम तुमसे घृणा करते हैं
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं।
मत भूलो कि अब
मेहनतकश कंधे
तुम्हारा बोझ ढोने को
तैयार नहीं हैं
बिल्कुल तैयार नहीं हैं।
देखो!
बंद किले से बाहर
झाँक कर तो देखो
बरफ पिघल रही है।
बछेड़े मार रहे हैं फुर्री
बैल धूप चबा रहे हैं

[224] सुनो ब्राह्मण (भूमिका) - मलखान सिंह

और एकलव्य

पुराने जंग लगे तीरों को

आग में तपा रहा है।"[225]

अहिंसा का दम भरने वाले इस देश में जाति के नाम पर चलने वाले हजारों साल की इस हिंसा का इतिहास नहीं है -

"अतीत से वर्तमान के बीच

चीखों की अनुगूंज

नहीं लिखी गयी दस्तावेज की तरह

जो समझा सके

हिंसा का सही-सही अर्थ।"[226]

शोषण के इस दुश्चक्र को चलाते रहने का सबसे बड़ा जरिया रहा है - धर्म। धर्म ने इस अमानवीय व्यवस्था को वैध बनाने का काम किया। शूद्र को ब्रह्मा के पैर से जन्मा बताया, वेदों और धार्मिक ग्रंथों से देवताओं-मंदिरों से दूर रखा, तमाम घृणित कार्यों को करना उनका कर्तव्य बताया, सवर्णों की सेवा में ही इनका सुफल, उनकी मुक्ति बतलायी। इसीलिए धर्म समकालीन कविता के हमले की जद में बार-बार आता है और तमाम प्रपंचों और भेदभाव की पोल खोलता है -

"क्यों नहीं जगाती आस्था

देवों की पाषाण मूर्तियाँ

जो गढ़ी हैं मैंने ही

छेनी-हथौड़े के सधे वार से।

---

[225] धरती की गीत - मलखान सिंह, सुनो ब्राह्मण, पृ.सं. 48

[226] हिंसा का अर्थ - बस्स! बहुत हो चुका, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं. 36

क्यों नहीं जाग्रत हो जाता देवता

प्राण प्रतिष्ठा के बाद

क्यों रह जाता है जड़

भूख और जुल्म देखकर।"[227]

समकालीन हिंदी कविता की इस पूरी व्यथा को अगर थोड़ा व्यवस्थित कर देखें तो स्पष्ट रूप से कुछ पहलू दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् कवि बहुत ही व्यापक रूप से और ऐतिहासिक समझ का उपयोग करते हुए उन तमाम संदर्भों और कारणों की तलाश करता है जो इस ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए उत्तरदायी है। साथ ही साथ; इस समझ और तलाश से संघर्ष की स्थिति की भी जाँच करता है और इस अमानवीय व्यवस्था के आज भी जारी रहने पर कभी अफसोस तो कभी क्रोध प्रकट करता है। समकालीन हिंदी कविता की इस पूरी पड़ताल, समझ, चिंता, आशंका, परिवर्तन की इच्छा आदि को कुछ बिंदुओं के अंतर्गत और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है अर्थात वे क्षेत्र जहाँ समकालीन कविता और कवि की दृष्टि इस संदर्भ में गई है -

1) धर्म और ईश्वर
2) वर्ण-व्यवस्था
3) अस्पृश्यता
4) ब्राह्मण-वर्ग
5) प्राकृतिक-नैसर्गिक अधिकार
6) शोषण
7) स्वतंत्रता
8) भूख और निर्धनता

---

[227] 'तुम्हारी गौरव गाथा' : बस्स! बहुत हो चुका - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.सं. 52

9) परिवर्तन की इच्छा

10) संघर्ष की प्रेरणा

11) मानवता की स्थापना

12) इतिहास

13) संस्कृति

धर्म और ईश्वर ब्राह्मणवादी-व्यवस्था के सबसे बड़े प्रतीक और आश्रय हैं। ब्राह्मणवादी-व्यवस्था के सारे कारोबार इन्हीं के नाम पर चलते हैं और मनुष्य के सारे क्रियाकलापों, मान्यताओं को इन्हीं के नाम पर वैधता प्रदान किया जाता है।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने घोषित कर रखा था कि जो कुछ भी है वह ईश्वर प्रदत्त है और उसका पालन प्रत्येक मानव का धर्म है। उसकी सामाजिक स्थिति पिछले जन्म के कर्मों से संबंधित है और अगले का संबंध इस जन्म के कर्मों से निश्चित होगा। एक ऐसे भय का निर्माण किया गया कि कोई भी इस व्यवस्था के विरूद्ध जायेगा वह या तो नरक में जायेगा या फिर अगले जन्म में भी इसी प्रकार नीच-जाति या पशु योनि में जन्म लेगा। जन्म संबंधी मान्यता हो या सामाजिक आचार-व्यवहार संबंधी, सभी अतार्किक और अवैज्ञानिक-मान्यताओं-प्रथाओं को ईश्वर और धर्म के नाम पर स्थापित किया गया। इसलिए कवि अपनी पहली चोट ईश्वर और धर्म और उससे संबंधित तमाम ग्रंथों आदि पर करता है-

> "ईश्वर की मौत उस पल होती है
> जब मेरे भीतर उभरता है सवाल-
> ईश्वर का जन्म
> किस माँ की कोख से हुआ था?

ईश्वर का बाप कौन?"[228]

सी.बी. भारती अपनी कविता 'ईश्वर नहीं है' में तो और भी स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं-

"देखता हूँ जब भी
किसी गरीब की पीठ पर
शोषण के बेरहम निशान
उठते हैं मेरे मस्तिष्क में प्रश्न
ईश्वर हो ही नहीं सकता
मुझे लगता है
ईश्वर कुछ लोगों के स्वार्थ की उपज है।"[229]

ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था में सबसे ऊपर स्थिति है। वह इस धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि और धर्म का सबसे बड़ा संरक्षक वर्ग है। अन्य सवर्ण उसके सहयोगी हैं। धर्म और ईश्वर के नाम उसी ने इस अमानवीय वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता जैसी प्रथाओं को समाज में स्वीकृत करता रहा है। धर्म-ग्रंथों और शास्त्रों को ईश्वरीय बताकर समाज में सभी आचार-व्यवहार को कानून जैसी मान्यताएँ दिलवाता रहा है। समकालीन कविता में इसकी भी पोल खोली गयी है और असली अपराधी इसी वर्ग को मानते हुए उस पर कड़े प्रहार भी किए गये हैं -

"हमारी दासता का सफर
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अंत भी
तुम्हारे अंत के साथ ही होगा।

---

[228] आग और आंदोलन - मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं. 44
[229] आक्रोश - डॉ. सी.बी. भारती, पृ.सं. 2

सुनो ब्राह्मण!

हमारे पसीने से

बू आती है तुम्हें।"[230]

कवि कहीं भी हीनता से ग्रंथित नहीं है। वह व्यंग्य भी करता है और अपराध एवं अपराधी भाव का भागीदार प्रतिपक्ष को बनाता है-

सुनो भूदेव

तुम्हारा कद

उसी दिन घट गया था

जिस दिन कि तुमने

न्याय के नाम पर

जीवन को चौखटों में कस

कसाई बाड़ा बना दिया था।

और खुद को शीर्ष पर

स्थापित करने हेतु

ताले ठुकवा दिये थे

चौमंजिला जीने से!

वहीं बीच आंगन में

स्वर्ग के नरक के

ऊँच के नीच के

छूत के - अछूत के

भूत के भभूत के

[230] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 46

मंत्र के तंत्र के

बेपैंदी के ब्रह्म के

कुतिया, आत्मा, प्रारब्ध

और गुण-धर्म के

सियासी प्रपंच गढ़

रेवड़ बना दिया था

पूरे के पूरे देश को।"[231]

उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने उस 'सियासी प्रपंच' को स्पष्ट कर दिया है जिसके तहत और जिसके कारण वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। दलित वर्ग मुख्यत: श्रम करने वाला उत्पादक-वर्ग है जबकि ब्राह्मण वर्ग सभी उत्पादनों पर अधिकार कर लेने वाला, वह भी बगैर श्रम किये। अगर ब्राह्मण वर्ग श्रम करता तो उसे यह समझते देर नहीं लगती कि अस्पृश्यता ईश्वर प्रदत्त या प्राकृतिक नहीं है बल्कि उसके ही प्रपंच का एक रूप है जिसके तहत तमाम गंदे काम और कठोर श्रम के कार्य दलितों को सुपुर्द कर दिये गये हैं।

मैला ढोने या चमड़ा कमाने का काम अगर ब्राह्मण-वर्ग ने किया होता तो कभी भी अस्पृश्‌यता जैसी भयावह प्रथा अस्तित्व में नहीं आयी होती। पूरा सवर्ण तबका और विशेषत: ब्राह्मण वर्ग परजीव-वर्ग है जो अपनी अधिकांश सुविधाओं और जीवन-यापन के लिए अधिकांश अवर्ण और छोटी समझी जाने वाली जातियों पर निर्भर है। और बावजूद इसके उसे बदले में अपमान, भूख, अस्पृश्यता आदि का शिकार होना पड़ता है। इसलिए कवि पूछता है -

"यदि

तुम पर लाद दिया जाये

कर्तव्यों का भार

[231] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 46

निषेधों-प्रतिबंधों का अम्बार

अवश हो जिनसे

करनी पड़ी दासता-बेगार

दिन-रात की हाड़-तोड़ मेहनत

और तब बदले में

खाने को दिया जाये बासी जूठन

या दो मुट्ठी सड़ा-गला अनाज

तन ढकने को पुराने वसन-उतरन

ऊपर से डाँट-फटकार

भद्दी अश्लील गालियों की बौछार

लात-घूँसों-डंडों की मार

तब तुम्हें कैसा लगेगा?"[232]

दलित जीवन को लेकर सामने वाली समकालीन हिन्दी कविता जीवन के पर्याय की कविता है। उसमें वायवीयपन नहीं है। मानो यातना ने स्वयं ही शब्दों का रूप ले लिया हो। लेकिन ध्यान देने की बात है कि यातना से उपजी होने पर भी केवल भावुकता या आक्रोश की कविता नहीं है। अर्थात् केवल यही पहचान के बिंदु नहीं हैं। ये स्वभावत: और अनिवार्यत: आये हैं लेकिन मुख्य बात है- तार्किकता। बहुत ही तार्किक ढंग से पूरे ऐतिहासिक विकास-क्रम में वर्तमान तक की यात्रा करती हुई ठोस अभिव्यक्ति है। एक प्रकार से पूरी सभ्यता-समीक्षा साथ-साथ चलती है। इसीलिए इतिहास की बात आती है-

"आये हैं उजाड़ घर

गाय का मूत रचा

[232] आजाद हैं हम - आर. सागर, पृ.सं. 36-37

गोबर पुता इतिहास

जिसके पन्ने-पन्ने पर

उत्पीड़न और अपमान के

प्रतिमान टँगे हैं।"[233]

यह उत्पीड़न और अपमान इतिहास नियंताओं के लिए अट्टहास का विषय है-

"उसने मेरा नाम नहीं पूछा

मेरा काम नहीं पूछा

पूछी एक बात

क्या है मेरी जात

मैंने कहा - इंसान

उसके चेहरे पर उभर आई

एक कुटिल मुस्कान

उसने तेजी से किया अट्टहास

उस अट्टहास में था

मेरे उपहास का

एक लंबा इतिहास।"[234]

और इसीलिए इतिहास में अपना पक्ष तय करने का भी समय है -

"आदि कविता

क्रौंच का वध देखकर पैदा हुई थी।

मैं परन्तु

[233] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 24

[234] आज की कविता - मुकेश मानस, पृ.सं. 193

आदि कवि के वंशजों में से नहीं हूँ।

वाल्मीकि मैं नहीं हूँ,

क्रौंच हूँ मैं।"[235]

और इस क्रौंच की अपनी आत्मानुभूति है, अपना इतिहास है, अपनी कहानी और अभिव्यक्ति की समर्थता भी है। उसे सहानुभूति की अब आवश्यकता नहीं है -

"स्वयं पीड़ित -

स्वयं ही हूँ साक्ष्य।

प्रेक्षकों पर है नहीं विश्वास।"[236]

प्रेक्षकों पर ही अविश्वास ने दलित समाज को देश की उस स्वतंत्रता पर भी अविश्वास करने पर विवश करता है जो उनके लिए कभी आयी ही नहीं -

"आज

आजादी की आधी सदी के बाद भी

हम गुलाम हैं

पैदायशी गुलाम

जिनका धर्म चाकरी है

और बेदबी पर

कँटीले डण्डे की चोट

थूथड़ पर खाना है या

भूखा मरना है।"[237]

---

[235] क्रौंच हूँ मैं - श्योराज सिंह बेचैन, पृ.सं. 20-21

[236] क्रौंच हूँ मैं - श्योराज सिंह बेचैन, पृ.सं. 20-21

[237] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 17

डॉ. अम्बेडकर ने कहा था - "भारत ने सिर्फ राजनैतिक लोकतंत्र स्वीकार किया है, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में अभी भी यथास्थिति बनी हुई है।"[238] समकालीन कविता इसे भी रेखांकित करती है -

"नहीं निकल सकता जो आज भी
पहनकर नये कपड़े
घोड़ी पर बारात
नहीं बैठ सकता जो आज भी
सवर्णों के सामने खाट पर

नहीं कर सकता
अपनी इच्छा और पसंद का काम।

जी रहा है जो स्वराज में भी
गुलामों सी जिंदगी।"[239]

भूख आज भी जिनके जीवन का बड़ा सच है -

"भूख! हमारी रात को दर्द
दिन को नासूर बना दिया है तूने
और हमारे वजूद को
घूरे तक खींच लायी है तू।"[240]

[238] दलित कविता का संघर्ष - कंवल भारती, पृ.सं. 233
[239] गूंगा नहीं था मैं - जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं. 24-25
[240] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 24

आजाद देश ने गुलामी और भूख तो दी ही थी, फिर भी इसके साथ चैन से जीने की भी छूट नहीं दी। दलित नरसंहारों का एक पूरा इतिहास आजाद देश में रहा है। "किसी भी हत्याकांड को इसी पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है - बेलछी, परसबीघा, साठूपुर, देहुली, कुम्हेर ये सभी नरसंहार अस्सी और नब्बे के दशक में ही हुए थे।"[241] और जिन्हें आजादी नसीब है वे या तो इस नरसंहार में शामिल हैं या फिर मूकदर्शक हैं -

"गाँव तमाशा देख रहा है
और हाथी
अपने खम्भे जैसे पैरों से
हमारी पसलियाँ कुचल रहा है
मवेशियों को रौंद रहा है
गर्भवती स्त्रियों की नाभि पर
बंदूक दाग रहा है और हमारे
दूधमुँहे बच्चों को
लाल लपलपाती लपटों में
उछाल रहा है।"[242]

वस्तुत: यह आजादी भारत के सवर्णों की आजादी थी। यह उनका रामराज्य था जिसमें अधिकांश आबादी को तमाम विकासों, अवसरों, संसाधनों से दूर रखा गया। सैकड़ों वर्षों की लगातार पराधीनता से उबरा सवर्ण समाज मानो अपनी कुंठा को दलित-समाज पर निकालना चाहता हो। इसीलिए स्वतंत्रता में हिस्सेदारी उसे कबूल नहीं थी-

"तुम चाहो राम-राज्य आये

[241] दलित कविता का संघर्ष - कंवल भारती, पृ.सं. 209
[242] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 13-14

तुम श्रेष्ठ, शूद्र मैं बना रहूँ

तुमको सारे अधिकार रहें

मैं वर्जनाओं से लदा रहूँ।"[243]

अगर सवर्ण समाज की नीयत साफ होती तो दलितों के आरक्षण को लेकर प्रश्न नहीं उठाये जाते। लेकिन चूँकि समकालीन कवि आरक्षण के इतिहास से अनभिज्ञ नहीं है इसीलिए तर्क करता है -

"तुम्हें खटकता है

सरकारी नौकरियों में मेरा आरक्षण

मेडिकल या इंजीनियरिंग कालेजों में

मेरा एडमिशन।

क्या कैपिटेशन फीस

यानी रिश्वत देकर एडमिशन लेना

उचित है?

क्या मंदिर की मोटी कमाई पर

क्या यह सब आरक्षण नहीं है?"[244]

लेकिन समकालीन हिंदी कविता परिवर्तनकामी है। संघर्ष की पक्षधर है। पूरी व्यवस्था के वास्तविक लोकतांत्रिकरण की मांग करने वाली है। दलित समाज के संघर्ष की मनोवैज्ञानिक पीठिका तैयार करती है लेकिन चेतावनी के साथ -

"धनुर्धर!

आज जान गये

---

[243] गूंगा नहीं था मैं - जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं. 42

[244] गूंगा नहीं था मैं - जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं. 42

ठीक-ठीक जान गये हैं कि

कल -निकम्मों के साथ

होने वाली आखिरी जंग में

तू हमारा सारथी नहीं होगा

और पूरा का पूरा जंग

हमें अपने बाजुओं से

जीतना होगा।"[245]

इस चेतावनी और जंग का हिमायती वही कविता हो सकती है जो इतिहास-बोध से उपजी हो। प्रतिरोध केवल आकांक्षा भर नहीं रह जाये इसीलिए इतिहास-बोध से संपन्न होना अनिवार्य है।

V. आदिवासी

मानव सभ्यता आज अपने विकास के चरम पर होने को लेकर गौरवान्वित है। मानव सभ्यता का प्रसार चाँद और मंगल तक जा पहुँचा है। लेकिन इस उपलब्धि के बरक्स ही एक सच्चाई यह भी है कि मानव समाज का एक अंग आज भी विकास से कोसों दूर आज भी प्रकृति पर निर्भर आदिम अवस्था में जीने को बाध्य है। "आदिवासी समुदाय आदिम और मूलवासी समाज का वह हिस्सा है जो अब भी मुख्य समाज से अलग-थलग प्रमुख रूप से प्रकृति पर आधारित जीवन जीता आ रहा है और प्राचीनता और नैसर्गिकता के संदर्भ में आदिम सरोकारों का कमोबेश संरक्षण किए हुए है।"[246]

अर्थात आदिवासी समाज बनाम मुख्य समाज। दोनों की अपनी-अपनी स्वतंत्र परंपराएँ, मान्यताएँ रही हैं। मुख्य समाज सभ्यता की विकास की यात्रा में आगे निकल चुका है और

---

[245] सुनो ब्राह्मण - मलखान सिंह, पृ.सं. 28

[246] हाशिये पर मूलवासी - हरिराम मीणा, जनसत्ता, 8 अगस्त 2009

उसके दम पर वह आदिवासी समाज, उसकी संस्कृति, उसका जीवन, उसकी मान्यताओं का पिछड़ा हुआ घोषित करता रहा है और इसी आधार पर नकारता भी रहा है। इतिहास गवाह है कि जब-जब तथाकथित विकसित मुख्य समाज आदिवासी दुनिया में जाता है आदिवासी समाज नए-नए शोषण के दुष्चक्रों में फँसता गया है। वास्तव में मुख्य समाज के तमाम विकास का आधार जिस प्राकृतिक संसाधनों पर टिका है वही आदिवासियों का घर है - प्रकृति के बीच। इसलिए विकास की अबाध पूर्ति के लिए आदिवासियों को लगातार उनके प्राकृतिक आवासों से भगाया जाता रहा है। एक तो आदिवासी अपनी स्वाभाविक, नैसर्गिक छल-छद्म से रहित जीवन-दृष्टि के कारण इस षड्यंत्र को समझ नहीं पाता और यदि समझता है और प्रतिरोध का यत्न करता है तो आतंकी व मुख्य समाज के लिए खतरा बताकर मार दिया जाता है। लेकिन आज धीरे-धीरे आदिवासी संकट विमर्शों के केन्द्र में आता जा रहा है। अपने पुरखों को धरोहर मानने वाले यह समाज ऐतिहासिक विवेक के साथ सामने आ रहा है -

"एकलव्य
अब जब भी तुम आना
तीर-धनुष के साथ ही आना
हाँ, किसी द्रोण को अपना गुरु न मानना
वह छल करता है।"[247]

प्रतिरोध को बरकरार रखने और उसे मजबूत करने के लिए प्रतिरोध के इतिहास का ज्ञान आवश्यक है -

"ऐसा ही हुनर था
जब डुंबार बुरू से
सैकड़ों तीरों ने आग उगले थे

---

[247] एकलव्य से संवाद - अनुज लुगुन, अखड़ा, जून-अगस्त, 2011, अंक - 2, पृ.स. 46

और हाड़-माँस का छरहरा बदन बिरसा

अपने अद्भुत हुनर से

भगवान कहलाया।

ऐसा ही हुनर था

जब मुंडाओं ने

बुरू इरगी के पहाड़ पर

अपने स्वशासन का झंडा लहराया था।"[248]

इतिहास की जानकारी संघर्ष की तैयारी है। इतिहास ही है जो उसे असहाय और कमजोर नहीं पड़ने देता। वह इतिहास, जो उसके पुरखों ने संचित किया है, के बल पर संघर्ष की तैयारी करता है। वह जानता है सत्य शोषकों के पक्ष में नहीं, उसके पक्ष में है बस केवल उसे अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है -

"किंवदन्तियों की कारा में

तुम कैद रख नहीं सके इतिहास को

तुम्हारी व्याख्याओं, तुम्हारी टीकाओं, तुम्हारे भाष्य, तुम्हारे विश्लेषणों के

प्राचीर तोड़ कर

इतिहास हवा की तरह फैल गया

और वह मेरे नथुनों में साँस की तरह है

किसी अधूरे सत्य ने तुम्हारे कंठ को लिया था नीला

और सत्य के इस पूर्ण साक्षात्कार ने

मेरी पूरी देह नीली कर दी है।

----

[248] एकलव्य से संवाद - अनुज लुगुन, अखड़ा, जून-अगस्त, 2011, अंक - 2, पृ.स. 45

अरे ! देखो, इतिहास की भीषण ज्वाला में झुलसी हुई मेरी

ये भुजाएं

देखो; त्वचा से बाहर आती ये रज्जु-नसें

जिनमें जकड़ा हुआ इतिहास है।"[249]

आदिवासी समाज की आज मुख्य चिंता अपनी पहचान और अस्तित्व को विलुप्त होने से बचाने की है। इसलिए जरूरी है कि वह अपनी परंपरा को पहचाने और उसकी पहचान को स्थापित करे। 'इतिहास के अंत' की घोषणा वाले युग में आदिवासी समाज अपने इतिहास-निर्माण में व्यस्त है क्योंकि उसका इतिहास, इतिहास से बेदखली का इतिहास रहा है।

लेकिन आज समकालीन समय में आदिवासी समाज के समक्ष संकट पहले से कई गुना अधिक है। उनके सामने शोषण की शक्तियाँ सत्ता द्वारा संरक्षित धन, तकनीक, हथियार, विचार सभी कुछ से लैस होकर खड़ी है। आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा प्राकृतिक संसाधनों की माँग बढ़ती जा रही है और परिणामस्वरूप आदिवासी का जल, जंगल, जमीन को हथियाया जा रहा है। "आज के दौर में सरकारों का एकमात्र लक्ष्य विकास के नाम पर विशेष आर्थिक क्षेत्रों का निर्माण रह गया है। 'सेज' नामक राक्षसी योजनाओं के माध्यम से आदिवासियों की जमीन उनके हाथों से खिसक कर विदेशी कंपनियों के हाथों में जा रही है और आदिवासी आज भी भूख के कारण घास की रोटियाँ खाने को विवश हैं। सरकारी संरक्षण प्राप्त अर्थ-सत्तावादी देश में चाहे बहुद्देश्यीय परियोजनाएं बनाए या 'सेज' हर हाल में आदिवासी प्राकृतिक संसाधनों पर अपनी निर्भरता खोता जा रहा है। आज आदिवासियों की जमीन और जंगल बड़ी-बड़ी कंपनियों के मालिक, अर्थसत्ता के नियंत्रकों और उद्योगपतियों में बंट रही है।"[250]

---

[249] भिनसार - ज्ञानेन्द्रपति, पृ.सं. 160-61

[250] युद्धरत आम आदमी - श्रवण कुमार मीणा, पृ.सं. 72

अगर आदिवासी समाज इस लूट का विरोध करता है तो उसे नक्सली करार दिया जाता है और उनकी हत्याओं को भी 'ग्रीन हंट' के नाम पर वैध ठहरा दिया जाता है। समकालीन हिंदी कविता इस सच को सामने लाती है -

"हथियार उठा लिया है
लोगों ने साठ वर्ष की घुटन भरी जिंदगी के खिलाफ
नक्सलवाड़ी से लालगढ़ तक की खबर
सुर्खियों में कुछ यों ही नहीं है
और यह देश है कि लूटने वालों के खिलाफ मोर्चा खड़ा न कर
लुटने वालों की जमात पर गोलियां बरसा रहा है।"[251]

समकालीन हिंदी कविता का बल इस संदर्भ में मुख्यत: दो चीजों पर है - परंपरा की स्मृति और उससे पैदा होने वाले संघर्ष का बयान -

"शिकारी शिकार बने फिर रहे हैं
शहर में
अघोषित उलगुलान में
लड़ रहे हैं जंगल
लड़ रहे हैं ये
नक्शे में घटते अपने घनत्व के खिलाफ
जनगणना में घटती संख्या के खिलाफ
गुफाओं की तरह टूटती
अपनी ही जिजीविषा के खिलाफ।"[252]

[251] खबर - गिरिजा शंकर मोदी, युद्धरत आम आदमी, पृ.सं. 72
[252] अघोषित उलगुलान - अनुज लुगुन, अखड़ा, जून-अगस्त 2011, अंक 2, पृ.सं. 48

और आदिवासियों के साथ यह तब हो रहा है जबकि उन्होंने कभी भी सत्ता व वर्चस्व को अपने जीवन दर्शन में नहीं आने दिया। आज एक तरफ पर्यावरण संकट की बात की जा रही है और दूसरी तरफ इन आदिम पर्यावरण रक्षकों का वध किया जा रहा है -

"हमने कभी सल्तनत की कामना नहीं की
हमने नहीं चाहा कि हमारा राज्याभिषेक हो
हमारे शाही होने की कामना में रहा है
अंजुरी भर सपनों का सच होना

हमने चाहा कि
फसलों की नस्ल बची रहे
खेतों के आसमान के साथ
हमने चाहा कि जंगल बचा रहे
अपने कुल गोत्र के साथ
पृथ्वी को हम पृथ्वी की तरह ही देखें"[253]

आदिवासी समाज की व्यथा का एक कारण वह छल भी है जो उसे उसकी सहृदयता के बावजूद मुख्यधारा का समाज देता रहा है। आत्मीय संबंध की दरकार मुख्य धारा के समाज को भी नहीं रही उन्हें तो बस उस प्राकृतिक संपदा का लालच था जिसे आदिवासी समाज अपनी परम्परा से संजोते आये हैं। इस छल की व्यथा भी कविता में व्यक्त हुई है -

"हम बियाबानों में
जोहार कहते
करते रहे तुम्हारा स्वागत

---

[253] हमारी अर्थी शाही हो नहीं सकती - अनुज लुगुन, समकालीन आदिवासी कविता, संपा. हरिराम मीणा, पृ.सं. 15-16

तुम नमक की टोकरी लिए

जीतते रहे हमारा दिल

दिल जीतते जीतते

आखिर तुम जीत गए बहुत कुछ

लेकर सादे कागज में अंगूठे का निशान

रचते रहे हमारे विरूद्ध षड्यंत्र

लेकिन इन सब से अनजान

अपनी झोपड़ियों में

करते रहे हम तुम्हारा स्वागत

करते रहे तुम्हें जोहार"[254]

और इस जोहार का सहारा लेकर मानव की शक्ल में शैतान, विकास की बात को छलना बनाकर आदिवासी घरों में घुस आए और फिर उन्हें घरों से ही या तो निकाल दिया या फिर वहीं बड़ी-बड़ी कंपनियों में देहाड़ी मजदूर बना दिया। इस पराधीनता से निकलने का कोई भी प्रयत्न सत्ता के समक्ष विद्रोह है और जिसका दमन वह हर हाल में करती है -

"ग्लोबल विकास के पैकेज पर

प्रहार करने का स्वांग करते

प्रकृति-पुत्रों की आवाज निकालते

नेपथ्य में सुरक्षित शैतानों का समूह

विकास-घुसपैठ, आदिम चेतना आतंक

सब गड्डमड्ड करती यात्रा

बाल्को, हिंडाल्को, नेतरहाट

---

[254] फिर भी हम कहते रहे हैं तुम्हें जोहार - महादेव टोप्पो, समकालीन आदिवासी कविता, संपा. हरिराम मीणा, पृ.सं. 78

नंदीग्राम, सिगुरूर, लालगढ़

राजधानी एक्सप्रेस से ग्रीन हंट वाया दंतेवाड़ा"[255]

समग्रत: कहा जा सकता है कि आदिवासियों के वर्तमान संघर्ष- जल, जंगल, जमीन, भाषा इतिहास और सबसे बढ़कर अस्तित्व का संघर्ष को समकालीन हिंदी कविता ने अपना संघर्ष बनाया है। सचेत होते जा रहे आदिवासी की तरह समकालीन हिंदी कविता भी इस ऐतिहासिक दायित्व के प्रति सचेत होती जा रही है। आदिवासियों के प्रतिरोध के स्वर में स्वर मिला रही है। निरंतर विस्थापित होते जा रहे आदिवासी समाज को एक निश्चित भरोसेमंद कोना समकालीन हिंदी कविता में मिला है।

VI. साम्प्रदायिकता

साहित्य का बुनियादी चरित्र ही मानवीय एकता है। लेकिन समाज में ऐसी कई शक्तियाँ कार्यरत रहती हैं जो निरंतर मानवीय एकता को खंडित करने का प्रयत्न करती हैं। नस्ल, जाति, वर्ण, धर्म, लिंग, अर्थ आदि के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करने की परम्परा भी उतनी ही पुरानी कही जा सकती है जितनी पुरानी मानव-सभ्यता है। 'सभ्यता' शब्द जितना मनुष्य के सभ्य और विकसित होने की दास्तां बयान करता है उतना ही इसे प्राप्त करने और पोषित करने के लिए बर्बरता, हिंसा और विध्वंस को भी। मुख्य अंतर्विरोध यह है कि ये शक्तियाँ यद्यपि सामाजिक संरचना से ही उत्पन्न होती हैं लेकिन यह सक्रिय समाज की समग्रता की अवधारणा के विरूद्ध रहती हैं। मानव जीवन और समाज का एक और विडम्बनात्मक अंतर्विरोध यह भी है कि यद्यपि धर्म मानव जीवन की उदात्तता से संबंधित है किन्तु इतिहास गवाह है कि इसका भी प्रयोग मानवीय व सामाजिक एकता को तोड़ने में निरंतर किया जाता रहा है। धार्मिक विश्वासों व मान्यताओं के आधार पर संप्रदायों का गठन

[255] आदिवासी और यह दौर - हरिराम मीणा, समकालीन आदिवासी कविता, संपा. हरिराम मीणा, पृ.सं. 105-106

और फिर विभिन्न संप्रदायों के हितों में टकराव और परिणामस्वरूप संघर्ष व हिंसा। लेकिन अन्य असामाजिक गतिविधियों के समान इसके भी मूल में संसाधनों पर कब्जा और वर्चस्व स्थापना ही रहा है। इसके लिए घृणा का प्रसार और फिर इस्तेमाल किया जाता रहा है।

लेकिन साहित्य का इतिहास भी गवाह है कि ऐसी तमाम प्रति मानवीय शक्तियों के विरूद्ध वह अथक रूप से सक्रिय रहा है। उनका स्थायी प्रतिरोध करता है। मनुष्य को विभाजित या अवमूल्यित करने वाली प्रत्येक स्थिति या विचार के विरूद्ध साहित्य व्यक्ति और समाज को विवेकशील बनाता रहा है। विपत्ति की घड़ी में समझ और दिशा देता रहा है।

समकालीन समय में अर्थात सन् 1990 के बाद का भारतीय परिप्रेक्ष्य ऐसी ताकतों के सक्रिय होने का रहा है जिसने विविधता में एकता वाली भारतीय सामाजिक संस्कृति को ध्वस्त कर संप्रदाय या धर्म विशेष को लाभ पहुँचाने का यत्न करती रही हैं। 20वीं सदी के अन्तिम दशक का आरंभिक समय और 21वीं सदी का आरंभिक समय मुख्य रूप से दो ऐसी घटनाओं का गवाह है जिसने भारतीय आम जनमानस में स्थायी संशय, द्‌वेष, घृणा, भय, उन्माद का विष घोल दिया। सन् 1992 में बाबरी मस्जिद की विध्वंस की घटना और सन् 2002 में गुजरात दंगा, इन दोनों ही घटनाओं ने भारतीय समाज का संप्रदायगत आधार पर तीव्र ध्रुवीकरण करने का कार्य किया और 21वीं शताब्दी की चुनौतियों और संभावनाओं के लिए तैयार होने की बजाए भारतीय समाज अपनी पुरानी जड़ता को उभारने में व्यस्त हो गया।

समकालीन समय की इस भयावह और प्रति मानवीय कर्म की पहचान समकालीन हिंदी कविता करती है और अपने रचनाकर्म के माध्यम से प्रतिरोध के स्वर और शक्तियों को संगठित करने के ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह करती है - "बीसवीं सदी के अंतिम दशक में भी विध्वंस के इस हथियार ने प्रभुत्व वर्ग के लिए अपनी उपयोगिता और जनसाधारण के लिए अपनी बर्बरता साबित की। दशक का आरंभ अयोध्या में विवादित ढांचे को धराशायी

करने के कारण उपजे सांप्रदायिक तनाव से हुआ और समापन गुजरात के भयावह नरसंहार पर पाँव धर सत्ता-सुंदरी तक पहुँचने वाली नृशंस पौरूष-यात्रा से। अपने समय के विराट भय ने कविता को गहरे तक आंदोलित किया। ......इस दौर में ऐसी कविताएं भी हुईं जिन के लिए सांप्रदायिकता एक विषय या कच्चा माल-भर नहीं था। इन कविताओं ने अपने समय के मनुष्य की धड़कनें सचमुच महसूस कीं और उन्हें उनका सर्वाधिक संभव सहज रूप देने की कोशिश की। अपने समय की असहजता को सहजता से व्यक्त करने की कोशिश की। इस तरह सांप्रदायिकता से काव्यात्मक लोहा लिया।"[256]

समकालीन हिंदी कविता ने इस संकट को बहुत ही व्यापक स्तर पर देखने का प्रयत्न किया है। इतिहास से लेकर वर्तमान तक, पूरी सहजता से लेकिन निर्भय होकर -

"इतिहास के बहुत-से भ्रमों में से
एक या भी है
लौटा नहीं था वह
यहीं था
सैंकड़ों बरसों के बाद अचानक
वह प्रकट हुआ अयोध्या में
सोमनाथ में उसने किया था
अल्लाह का काम तमाम
इस बार उसका नारा था
जय श्रीराम"[257]

---

[256] आज की कविता - विनय विश्वास, पृ.सं. 74-75

[257] समुद्र पर हो रही है बारिश - नरेश सक्सेना, पृ.सं. 94

सांप्रदायिकता का शिकारी कोई भी हो शिकार हमेशा से अधिकांशत: आम व्यक्ति ही होता है। कहा जाता है कि किसी भी धर्म की रक्षा और पोषण धर्मभीरु गरीब जनता ही करती है लेकिन कितनी विचित्र बात है कि धर्म के नाम पर सबसे पहले बलि भी उसी की दी जाती है -

"मैं तो रंगता था कपड़े ताने बाने रेशे रेशे
चौराहों पर सजे आदमकद से भी ऊँचे फिल्मी कद
मरम्मत करता था टूटी फूटी चीजों की
गढ़ता था लकड़ी के हिंडोले और गरबा के रंगीन डांडिए
अल्युमिनियम के तारों से छोटी-छोटी साइकिलें बनाता बच्चों के लिए
इसके बदले मुझे मिल जाती थी एक जोड़ी चप्पल एक तहमद
दिन भर उसे पहनता रात को ओढ़ लेता
आधा अपनी औरत को देता हुआ।"[258]

लेकिन विचित्र बात यह है कि जिन मकसदों के लिए आम आदमी की बलि ली जाती है उन मकसदों से उनका कुछ भी लेना देना नहीं था। उनके जीने और मरने के मकसद में कितना अंतर आ गया -

"मेरे जीवित होने का कोई बड़ा मकसद नहीं था
और मुझे मारा गया इस तरह जैसे मुझे मारना कोई बड़ा मकसद हो।"[259]

सारा खेल सत्ता और वर्चस्व के लिए हैं और इसकी पूर्ति के लिए अन्य तमाम उपायों के साथ ही धर्म का सहारा भी लिया जाता है। समाज और उसका सदस्य आम आदमी अपने सामान्य जीवन में ऐसे किसी भेद को व्यवहार में नहीं लाता है। अलग-अलग धार्मिक

[258] दस बरस : हिंदी कविता अयोध्या के बाद - मंगलेश डबराल, संपादक : असद जैदी, पृ.सं. 45
[259] दस बरस : हिंदी कविता अयोध्या के बाद - मंगलेश डबराल, संपा. असद जैदी, पृ.सं. 46

मान्यताओं के बावजूद समाज शांति चाहता है और उसी राह पर चलता भी है। लेकिन समाज का खास प्रभु वर्ग इस शांति और सौहार्द को पसंद नहीं करता। वह संप्रदायगत भावनाओं को भड़काकर वैमनस्य के रास्ते साम्प्रदायिक गुटबंदियों के जरिए लोकतंत्र में अपने वोटों को सुरक्षित बनाने की कोशिश में लगा रहता है। यह सत्ता प्राप्ति का शार्टकट तरीका है। इसके लिए वह छद्म रचता है, राष्ट्रीयता, भारतीयता, हिन्दुत्व, धर्म-रक्षा आदि के नारों के माध्यम से। लेकिन इस पूरे मानव-विरोधी षड्यंत्र को भोगने वाला अंतत: आम आदमी ही होता है जो घृणा और उन्माद की चपेट में आकर मारने और मरने - दोनों ही रूपों में भयावह नियति भुगतता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऐसा ही षड्यंत्र रचा गया - "बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारतीयता लादने की शुरूआत हुई थी, वह इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक में विस्तार पाती नजर आती है। जो लोग जिंदगी भर भारतीयता और हिन्दुत्व के छद्मावतारों की राह रोकते रहे वही अचानक बाँह पसारे उनको गले लगाने के लिए दौड़ पड़े। सत्ता लिप्सा के खेल ने असली भारतीयता और असली हिन्दुत्व को उसी प्रकार समाज से बेदखल कर दिया जिस प्रकार खोटा पैसा खरे पैसा को बाजार से बाहर कर देता है। चालीस-पचास सालों में जाकर विश्वास की जो इमारत बनने लगी थी वह अचानक भरभरा कर ढहा दी गई। सारा देश प्रतीक के पीछे पागलपन की हद तक चलने लगा है। दोनों तरफ के दुकानदार अपनी-अपनी दुकानदारी जमाने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विज्ञापनों के मायाजाल की तरह अपना मायाजाल फैलाए हुए हैं। प्रतीकों के इस बाजार और उसमें दुकानदारों की गला काट प्रतियोगिता में अंतत: गला कटता है आदमी का, वह जो इस बाजार का कभी भागीदार नहीं बन सकता, केवल उसका नुकसान भरने के लिए अभिशप्त है। अयोध्या हो या गुजरात, मुम्बई हो या सूरत, या कि कोई और शहर - मारे वे गए जिन्हें न कोई प्रतीक चाहिए था और न ही वे उसके लिए लड़ रहे थे, फिर भी मारे गए।"[260]

---

[260] प्रतिरोध रचती कविता - वेदप्रकाश भारद्वाज, समकालीन भारतीय साहित्य (मार्च-अप्रैल 2004), पृ.सं. 178

आम व्यक्ति शिकार है लेकिन इस षड्यंत्र को समझने में नाकाम और इसीलिए यह प्रक्रिया रूकने का नाम नहीं ले रही और बार-बार मानवीय संकट के रूप में सामने आ जाती है -

"जब-जब किसी स्टेशन पर रूकी है रेलगाड़ी
खिड़कियों से झरती हैं आवाजें और
कौंधती है बित्तयाँ
खिड़की से दूर बैठा बूढ़ा पूछता है
खिड़की के पास बैठे लड़के से
"कौन सा टेशन है भैया?"
खिड़की से बाहर झाँकता है लड़का
पढ़ता है स्टेशन का बोर्ड
कहता है
मेरठ।
हर स्टेशन पर पूछता है बूढ़ा
"कौन सा टेशन है भैया?"
हर स्टेशन पर बाहर झाँकता है लड़का
पढ़ता है बोर्ड और कहता है
मेरठ।
मेरठ!
मेरठ!
मेरठ!
पीली बत्तियों वाली बोगी में

ठसाठस भरे लोग बुदबुदाते हैं

मेरठ से कब बाहर निकलेगी

यह रेलगाड़ी।"[261]

समकालीन हिंदी कविता में छद्म और षड्यंत्र की पूरी पहचान है उसका पूरा इतिहास है। इसीलिए वह पूरी सक्षमता और तार्किकता के साथ उसका उद्घाटन करती है। सांप्रदायिकता को लेकर जितनी प्रखर कविताएं इन दो दशकों के बीच आयी हैं वह उसकी प्रतिरोधी चेतना का ज्वलंत प्रमाण है। दूसरी सबसे बड़ी बात है कि सांप्रदायिकता पर लिखते हुए भी समकालीन कवि एकांगी दृष्टिकोण नहीं स्वीकारता बल्कि इसे जीवन और मूल्यों के व्यापक क्षरण के रूप में देखता है। यह केवल समय विशेष में घटित हिंसा की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि जनमानस पर दर्ज होती जा रही हिंसा और उसकी चेतना पर दर्ज होते जा रहे प्रभाव की भी अभिव्यक्ति करता है। वह असमाप्त हिंसा को दर्ज करता है जो सामान्य व्यक्ति धर्म के नाम पर भोगता है। धर्म भय का पर्याय हो गया है और प्रत्येक दूसरा धर्मावलम्बी उसे आतंकी नजर आता है। जनमानस की इस मानसिकता निर्माण के पीछे सत्ता-लोलुप राजनीतिक वर्ग मुख्य रूप से जिम्मेदार है। वह जनमानस के इस भय को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील नहीं है बल्कि उसका पोषण करता है और समय-समय पर उसका इस्तेमाल कर सत्ता पर कब्जा करता है। इसीलिए समकालीन हिंदी कविता राजनीति के धार्मिक निहितार्थों और धर्म के राजनीतिक निहितार्थों का उद्घाटन करती है। धार्मिक उन्माद की छद्म वैचारिकता से टकराती है। उसके विरूद्ध समानांतर रूप से भारतीय सामाजिक चरित्र पर प्रकाश डालती है और उन समस्याओं को सामने लाने में अपनी ऊर्जा लगाती है जो आम व्यक्ति की मूल आधारभूत और आम जीवन की समस्याएं हैं -सामाजिक विषमता, निर्धनता आदि ठोस

[261] नेपथ्य में हँसी - राजेशी जोशी, पृ.सं. 41-42

ज्वलंत समस्याएं। इसलिए कवि एक समस्या को उठाता है और दूसरी समस्याएं उससे लिपटी चली आती हैं-

"टिफिन कैरियर से
जो रोटी की गंध आ रही है
वह किस जाति की है
.............स्कूल से कभी न लौटने वाली
बच्ची की प्रतीक्षा में खड़ी
माँ के आँसुओं का धर्म क्या है?"[262]

साम्प्रदायिकता जीवन के मूल्यों और रागात्मकता को स्थायी आघात पहुँचाती है -

"जो पागलदास
सच की रक्षा चाहते थे
चाहे थे न्याय
वध किया गया उनका
मार दिया गया उनको घेरकर उनके ही आंगन में
एकांत में नहीं
उनके लोगों की मौजूदगी में
और पहले पागलदास को छोड़ दिया गया
बजाने के लिए वाद्य
कला के संवर्द्धन के लिए।
....
उनको संगत देने वाला बचा न कोई

[262] निरूपमा दत्त मैं बहुत उदास हूँ - कुमार विकल, पृ.सं. 28

उन्होंने छोड़ दिया बजाना

बहुत जोर देने पर कभी बजाने बैठते थे तो

लगता था परवावज नहीं

अपनी छाती पीट रहे हैं।"[263]

आने वाली पीढ़ियों को जीवन की सुंदरता की बजाए अपनी आँखों से भय और आतंक को देखना पड़ता है -

"तस्वीरें और भी हैं

मसलन सिर से पैर तक जली हुई बच्ची की

जिसकी दो सहमी हुई आंखें ही दिख रही हैं पट्टियों के बीच से

अपने घर के मलबे में बैठी शून्य में तकती माँ-बेटी की

जान बचा लेने की भीख माँगते घिरे हुए लोगों की।"[264]

इस रूप में समकालीन हिंदी कविता इसे मनुष्यता और सभ्यता का संकट मानती है। कात्यायनी ने भी अपनी कविता में यही बयान किया है -

"धुआँ और राख जली-अधजली लाशों

और बलात्कृत स्त्रियों - बच्चियों और चीर दिए गर्भों

और टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए शिशु-शरीरों के बीच,

कुचल दी गयी मानवता।"[265]

सांप्रदायिक दंगों की सबसे भीषण यातना स्त्रियों और बच्चों को ही भुगतनी पड़ती है। या तो वे सीधे-सीधे आसान शिकार बनाये जाते हैं या फिर पुरुषों की हत्याओं के बाद बेसहारा और निर्धन अवस्था में छोड़ दिए जाते हैं। एक दंगा वैसी स्थिति में उनकी जिंदगी पर ताउम्र

---

[263] हम जो नदियों के संगम हैं - बोधिसत्व, पृ.सं. 11-14

[264] शिविर में शिशु - विष्णु खरे, उद्भावना, नवम्बर 2002, पृ.सं. 1

[265] आह मेरे लोगों! ओ मेरे लोगों! कात्यायनी, उद्भावना, नवम्बर 2002, पृ.सं. 4

चस्पां हो जाता है। लेकिन खिलाफ यह यातना, हिंसा भी दिनों-दिन और भी वीभत्स रूप अख्तियार करता जा रहा है - "दुनिया के किसी भी हिस्से में जब बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक या जातीय फसाद होते हैं या फासीवादी - तानाशाही अत्याचार होते हैं, तो सभी जगह औरतों के साथ यही सलूक होता है। चाहे कोई भी सभ्यता हो, कोई युग। आधुनिक सभ्यता वाले आधुनिक युग में भी औरतों के साथ बार-बार यही हुआ है। अलबत्ता बलात्कार के बाद औरतों को जान से मार देने की परिघटना गुजरात की अपनी है। इसके पीछे बलात्कारियों की सबूत मिटा देने की मंशा तो रही ही है; लिंग-भेद के परे मुसलमानों के प्रति घृणा की पराकाष्ठा भी कारण है। सावरकर-गोलवलकर के 'सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद' के अनुयायियों ने ये कैसे 'संस्कृति-पुरुष' तैयार किए हैं?"[266]

समकालीन हिंदी कविता सांप्रदायिकता के उस रहस्य का भी उद्घाटन करती है जो उसके लगातार सुनियोजित होते जाने का कारण है, लगातार विस्तृत होते जा रहे आधार का कारण है। सत्ता के द्वारा संरक्षण उसके मूल में है -

"बहुत दिन नहीं हुए
अयोध्या में जब धर्म के नाम पर
कलंकित हुई थी संस्कृति
शर्मिंदा हुई थी विरासत
ढहाई गई थी एक इमारत
बहुत छोटे कर दिए गए थे राम
और चौराहे पर हताश पड़ा था धर्म
तब भी एक मुख्यमंत्री ने
गर्व से कहा था

[266] गुजरात के सबक - प्रेम सिंह, पृ.सं. 5

हम हिन्दू हैं

....

दस बरस बाद

जलते हुए गुजरात में

....

लोग मरते रहे

सभ्यताएं मिटती रहीं

अमन लुटता रहा

मज़ारें ज़मींदोज़ होती रहीं

मुख्यमंत्री सब कुछ नियंत्रण में है का

राग अलापता रहा।"[267]

इसी तरह राज्य-सत्ताओं के साथ ही धार्मिक नेताओं के द्वारा भी इसे संरक्षित किया जाता है। राजनीतिक और धार्मिक नेताओं का गठजोड़ ही इस पूरे षड्यंत्र की ताकत है -

"धर्माचार्यों

अभी तो तुम हो बस पशुबल का अट्टहास

नरभक्षी अहंकार का विलास

यह देखो यह लाश

सुलग रही है, भुना हुआ है मांस

इसका भोग लगाओ

संतो, हम भूखे-नंगों की दुनिया

बस यही तुम्हें दे सकती है, खाओ।"[268]

---

[267] इतिहास - फ़ज़ल इमाम मलिक, उद्भावना, नवम्बर 2002, पृ.सं. 14

सांप्रदायिक संस्कृति और मानसिकता के विरूद्ध समकालीन कविता सामाजिक संस्कृति और साझी विरासत की स्मृति ताजा करती है ताकि आम व्यक्ति भिन्न प्रतीत होती हुई संस्कृति के इतिहास को जाने, उससे स्वयं को जोड़ सके -

"एक अजीब-सी मुश्किल में हूँ इन दिनों
मेरी भरपूर नफरत कर सकने की ताकत
दिनों दिन क्षीण पड़ती जा रही।

....

मुसलमानों से नफरत करने चलता
तो सामने ग़ालिब आकर खड़े हो जाते।
अब आप ही बताइए किसी की कुछ चलती है
उनके सामने ?
सिखों से नफरत करना चाहता
तो गुरू नानक आँखों में छा जाते
और सिर अपने आप झुक जाता

....

कोई न कोई, कहीं न कहीं, कभी न कभी
ऐसा मिल जाता
जिससे प्यार किए बिना रह नहीं पाता।"[269]

राजेश जोशी भी अपनी प्रसिद्ध कविता 'वली दकनी' के माध्यम से ऐसी ही कोशिश करते दिखते हैं -

---

[268] शोकनाथ -आर. चेतनक्रांति, पृ.सं. 87

[269] दस बरस : हिंदी कविता अयोध्या के बाद - कुंवर नारायण, संपा. - असद जैदी, पृ.सं. 84

"बात इक्कीसवीं सदी की पहली दहाई के शुरूआती दिनों की है
जब बर्बरता और पागलपन का एक नया अध्याय शुरू हो रहा था
कई रियासतों और कई जिस्म की सियासतों वाले मुल्क में गुजरात नाम का
एक सूबा था
जहाँ हिन्दू होने के गर्व और मूर्खता में डूबे हुए क्रूर लोगों ने
जो सूबे की सरकार और नरेन्द्र मोदी नामक उसके मुख्यमंत्री के
पूरे संरक्षण में हजारों लोगों की हत्याएं कर चुके थे
और बलात्कार की संख्याएं जिनकी याददाश्यत की सीमा पार कर चुकी थी
एक शायर जिसका नाम वली दकनी था का मज़ार तोड़ डाला !
वह हिंदी उर्दू की साझी विरासत का कवि था
....
हालांकि इस कारनामें का एक दिलचस्प परिणाम सामने आया
कि वह कवि जो बरसों से चुपचाप अपनी मजार में सो रहा था
मजार से बाहर आ गया और हवा में फैल गया !
....
जब वली दकनी की हर याद को मिटा दिए जाने का
उन्हें पूरा इत्मीनान हो चुका था
और वे पूरे सुकून से अपने-अपने बैठकखानों में बैठे थे
तभी उनकी छोटी-छोटी बेटियां उनके पास से गुजरी
गुनगुनाती हुई
....
वली तू कहे अगर यक वचन

रकीवां के दिल में कटारी लगे!"[270]

VII. संरचनागत (भाषा व शिल्प)

समकालीन हिंदी कविता की संरचना को समझने के लिए उसकी पक्षधरता को जानना आवश्यक है। 'खुदाई में हिंसा' संग्रह की पहली ही कविता में, जिसका शीर्षक भी है 'समर्पण', मानो पूरी समकालीन हिंदी कविता की पक्षधरता या दूसरे शब्दों में कहें तो चिंता स्पष्ट हो जाती है -

"मैं जानता हूँ कि कलापक्ष पर बात करना परम धर्म है साहित्य का
पर मैं भूख के कलापक्ष से अभिभूत होने से बचते हुए
उसके राजनीति पक्ष पर बातें करना चाहता हूँ।"[271]

इन पंक्तियों के विश्लेषण से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं जो समकालीन हिंदी कविता के विन्यास में प्रवाहित इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना के संदर्भ को समझने में सहायक है। पहली बात कलापक्ष समकालीन हिंदी कवि के लिए प्राथमिक नहीं है, दूसरी बात उसका कथ्य या विषय-वस्तु भूख है अर्थात् जो भूखा है, वंचित है, सामाजिक विकास के पदानुक्रम में अंतिम सोपान पर है, जिसके लिए जीवित रहना भर प्रतिदिन का एक संघर्ष है। तीसरी बात, वह केवल विषय को परोस कर हट नहीं जाती बल्कि वह विषय के होने की पूरी पड़ताल करती है अर्थात् वह अपने भीतर एक उत्तरदायित्व का वहन करती है और इसीलिए सरलता को नहीं जटिलता को ग्रहण करती है।

लेकिन इस जटिलता के स्वीकार के बावजूद समकालीन हिंदी कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रस्तुतिगत सरलता या सहजता है। जीवन और अपने समय के अत्यंत जटिल संरचना को जिस सहजता से समकालीन हिंदी प्रस्तुत करती है वह उसके विशिष्ट कौशल को

[270] वली दकनी - राजेश जोशी, उद्भावना, नवम्बर 2002, पृ.सं. 7-9
[271] खुदाई में हिंसा - बद्रीनारायण, पृ.सं. 11

दर्शाती है। इस रूप में यह परंपरा नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ की परंपरा का विकास माना जा सकता है। दिनेश कुशवाहा ने एक बातचीत के क्रम में इसे 'काव्य-दृष्टि' से जोड़ा है - "भाषा की सहजता एक कठिन साधना की देन होती है। सहज भाषा की बात को हम अपनी काव्य-दृष्टि से जो हमारे दर्शन की आँख भी है, उससे जोड़ेंगे। क्योंकि जब भी कविता दरबारों में जाकर खड़ी हुई है या उन शोषण करने वाले वर्गों के साथ खड़ी हुई तो कविता में भाषा ने कठिनता का घटा-टोप ओढ़ा है। कविता ने भाषा को शास्त्रीय बनाकर अपने को जनता से काटा है। जब भी आम लोगों के पक्ष में कविता खड़ी हुई है तो वह सहज होती गई है। .....कविता अपने कथ्य के अनुसार भाषा और शिल्प की मांग करती है।"[272]

लेकिन यह सहजता या सरलता कवि या पाठक के लिए सुविधा के लिए नहीं है। उसके गहरे निहितार्थ हैं। इसे 'सामाजिक-दबाव' से जोड़ते हुए कुमार अंबुज बताते हैं - "इधर सरलता के साथ व्यंजना संभव हुई है। एक सामाजिक दबाव के कारण कविता में लोक भाषा के शब्द आए हैं। ......व्यंजना घटित कर देने की जो बात है, वह एक नया काम है। ऐसा नहीं है कि पहले नहीं हुआ हो, लेकिन उतनी सहजता के साथ नहीं हुआ था। दो पंक्तियों के बीच के ठौर का उपभोग भी व्यंजना के रूप में हुआ है।"[273]

इसी पक्षधरता के कारण संभव हुआ है, चरित्रों की उपस्थिति। यह 'नायक के निष्कासन' के बाद की कविता है, 'शामिल आदमी' की कविता है और इस उपस्थिति एवं पक्षधरता के कारण दो शिल्पगत विशेषताएं बहुलता से देखी जा सकती है। पहला 'वर्णन' और दूसरा 'संबोधन'। चूँकि अब एक आम व्यक्ति कविता के केन्द्र में है, उसका संपूर्ण जीवन है और जिसके बारे में पहले इतनी गंभीरता या विस्तार से नहीं कहा गया है, इसलिए कवि वर्णन का सहारा लेता है और उस वर्णन के बीच से केन्द्रीय तत्व को निकाल कर लाता है।

---

[272] वसुधा, अंक-31 (अप्रैल-जून,95), पृ.सं. 98

[273] वसुधा, अंक-31 (अप्रैल-जून,95), पृ.सं.50

लेकिन इस वर्णन का विस्तार प्राय: नहीं है और इसीलिए समकालीन हिंदी कविता में लम्बी कविताएं अनुपस्थित है। वैसे भी एक आम व्यक्ति के जीवन-प्रसंगों में उसकी गुंजाइश भी नहीं है; आडम्बर, भव्यता से मुक्त जीवन। वर्णन और विवरण के माध्यम से कवि केन्द्रीय स्थिति तक पहुँचने की प्रक्रिया में पूरे परिदृश्य को विकेन्द्रित करता चलता है ताकि जीवन-गत बाह्य एवं आंतरिक विसंगति की पहचान हो, खंडित होते जा रहे मूल्यों को दर्शाया जा सके, जिसने आम व्यक्ति के जीवन में द्वैत पैदा कर दिया है। साथ ही, आम व्यक्ति का जो अपना इतिहास है इसी रूप में कविता में लाना संभव है।

'संबोधन' की उपस्थिति पक्षधरता की स्पष्ट घोषणा से है जिसके दो पक्ष हैं - पहला, जिनका पक्ष कविता लेती है और दूसरा, इस कारण जो प्रतिपक्ष तैयार होता है। समकालीन हिंदी कविता में दोनों ही पक्षों को बार-बार संबोधित किया गया है। पक्षधरता और संबोधन समकालीन हिंदी कविता को अत्यधिक प्रभावशाली बनाती है और अनावश्यक भटकाव से भी बचाती है। दिनेश कुशवाहा की यह कविता अपना पक्ष भी बताती है और एक प्रकार से संबोधित भी करती है -

"इतिहास के नाम पर मुझे
सबसे पहले याद आते हैं वा अभागे
जिनके खून से लिखा गया इतिहास
जो श्रीमंतों के हाथियों के पैरों तले
कुचल दिये गये
.......वे अभागे बच्चे वो अभागी बच्चियाँ
.....वे अभागी घसिआरिनें ....।"[274]

[274] कोख, कूड़ेदान और इतिहास, रचना समय, मई-जून, 2011, पृ.सं. 107

लेकिन यह संबोधन वहाँ अधिक स्पष्ट और प्रतिरोध का सूचक हो जाता है जहाँ वह प्रतिपक्ष के प्रति है। प्रतिपक्ष के इस संबोधन में कहीं आक्रोश, कहीं चेतावनी, कहीं व्यंग्य का स्वर मिलता है। सबसे प्रमुख बात यह है कि केवल संबोधनों के ही माध्यम से कवि ने पूरे इतिहास का बिम्ब खड़ा करने का काम किया है। मलखान सिंह की कविता में 'सुनो ब्राह्मण', 'सुनो वशिष्ठ', 'द्रोणाचार्य', 'ओ परमेश्वर', 'चक्रधर', 'धनुर्धर' का संबोधन हो या जयप्रकाश कर्दम वर्तमान संदर्भ से उसे जोड़ते हों

"तुम्हें खटकता है
सरकारी नौकरियों में मेरा आरक्षण
तुम चाहो राम-राज्य आये
तुम श्रेष्ठ, शूद्र मैं बना रहूँ"[275]

संबोधनों के ही माध्यम से पूरा कथ्य सामने आ जाता है। एक आम व्यक्ति के शोषण की निरंतरता दिखायी पड़ने लगती है। संबोधनों की एक खासियत यह भी है कि भले ही वह एकवचन में या व्यक्तिगत, नामपरक हों वे अर्थ 'समूहगत' देते हैं अर्थात् वे बतौर प्रतिनिधि आते हैं। संबोधनों ने एक और बड़ा काम किया है - कविता की अमूर्तता से रक्षा की है। प्रतिपक्ष को संबोधित करने की प्रवृत्ति विशेषकर उन कविताओं में दिखलायी पड़ती है जो सामाजिक न्याय के लिए किये जाने वाले आंदोलनों से प्रभावित हैं। स्त्री, दलित, आदिवासी संदर्भ की कविताओं में यह विशेष तौर पर इसी कारण दिखलायी पड़ती है। दिनेश कुशवाहा का संकेत भी है - "जितने आंदोलन आते हैं उन आंदोलनों के बाद जो हमारा काव्य संसार है वह कुल अलग तरह की भाषा उनसे लेता है। ....सामाजिक न्याय पर जो कविताएं लिखी जाने

[275] गूँगा नहीं था मैं - जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं.

लगी हैं उसकी भाषा भी आने लगी हमारी कविताओं में। उनमें उसकी राजनीति बोल रही है।"[276]

समकालीन हिंदी कविता की भाषा के संदर्भ में कई बातें हैं लेकिन कुछ एक जो निश्चित की जा सकती हैं और जो उसके वैचारिक पक्ष का स्पष्ट प्रतिफलन है -उसमें सबसे प्रमुख है कि वह 'बोलचाल' के अत्यंत निकट की भाषा है और 'लोक' से जुड़ी हुई भाषा है। बोलचाल या कि लोक की ओर भाषा का यह गमन केवल भाषा मात्र के लिए नहीं है केवल उसकी अक्षमता को दूर करने या केवल उसे व्यवस्थित करने के लिए नहीं है बल्कि यह लड़ाई वस्तुत: जीवन को व्यवस्थित करने की है। जिस विकसित या विकास की तड़प में जीने का आदी आज का व्यक्ति हो गया है, वह हर हाल में विस्थापित है। ऐसा नहीं है कि केवल नगरों या महानगरों में सुदूर क्षेत्र से आने वाला ही विस्थापित है बल्कि इस भौगोलिक विस्थापन के अतिरिक्त एक आत्मिक, भावनात्मक विस्थापन भी है जो प्रत्येक मनुष्य को कहीं भी रहते हुए है। यह कविता और उसकी भाषा उसी प्रत्येक मनुष्य के लिए है, उसकी व्यथा की कहनी है। एक और पक्ष भी खोजा जा सकता है कि क्या कवि आम बोलचाल की भाषा या लोक की भाषा, उसके संदर्भों को लाकर 'ग्लोबल' बनाम 'लोकल' की लड़ाई लड़ रहा है और अगर लड़ाई लोकल की है तो लड़ाई को विश्वसनीय बनाने के लिए भाषा भी लोकल होनी चाहिए। भाषा संबंधी इन्हीं कई संदर्भों को समेटते हुए कवि बद्रीनारायण बताते हैं - "इस समय की काव्य-भाषा 'अथ्योरीटेरियनिज्म' की भाषा के विरोध की भाषा है। ....ये भाषा बहुत डेमोक्रेटिक भाषा है। बहुत ही अपील करने की भाषा है। आपको शामिल करने की भाषा है। .....इसमें व्यवहार की भाषा आई है। .....यह एक तरह से पुन:रचना की भाषा है। 'डिकंस्ट्रक्शन' के दौर से मुक्त होकर एक 'रिकंस्ट्रक्शन' की कविता भी है, भाषा भी है। ....भाषा की राजनीति से भाषा में बहुत फर्क आयेगा। यह जो दौर चल रहा है उसमें बहुत

---

[276] कोख, कूड़ेदान और इतिहास, रचना समय, मई-जून, 2011, पृ.सं. 52

प्रभावकारी परिवर्तन आने वाले हैं; अत: भाषा में भी परिवर्तन आएगा। लोक शब्दों का जो आगमन हुआ वो भी चीजों को व्यवस्थित करने के लिए ही आया ......जिसको हम बहुत परफेक्ट कहते रहे उसमें कमी आई तो फिर लोक की तरफ जाना हुआ और वो हमारी तरफ आए।"[277]

इसी प्रकरण के विस्तार के रूप में समकालीन हिंदी कविता के संदर्भ में 'मिथक' की चर्चा अत्यंत महत्वपूर्ण है। समकालीन हिंदी कविता में मिथकों का प्रयोग मुख्यत: तीन कारणों से मिलता है। पहला, बोलचाल की भाषा, लोकभाषा के चुनाव के बाद उसे और अधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए, दूसरा, हमारी कल्पना का क्षरण जो वर्तमान समय में हुआ, उस कमी को पूरा करने के लिए। हमारे समय स्वयं व्यक्ति का और किसी भी वस्तु का 'प्रकटीकरण' अत्यधिक है, हमारा संपर्क बढ़ा है, सूचनाओं ने हमें पहले से कहीं अधिक अवगत किया है। इसके परिणामस्वरूप हमारी कल्पना-शक्ति क्षरित हुई है। हम रेडिमेड या तुरंत के आदी हो गये हैं। मिथक इस वैचारिक और मानसिक विकलांगता से निकलने के लिए बूटी का काम करती है। तीसरा, हमारा समय इतिहास, स्मृति विहीन होते जाने का समय है। हम लगातार कट रहे हैं। अपने अतीत से और यही कारण है कि जब हम समस्याओं से घिर जाते तो निहत्थे महसूस करते हैं क्योंकि हम हमारे समय, हमारी समस्याओं के ऐतिहासिक-बोध के अभाव में होते हैं। मिथक इस अनिरंतरता, असत्य की प्रक्रिया को तोड़कर एक ऐतिहासिक-बोध से अवगत कराता है। इसीलिए समकालीन हिंदी कविता पारंपरिक रूप से इस अत्यंत सक्षम संवाद-शैली को अपनाती है और इतिहास-बोध से स्वयं को भी और पाठक को भी अधिकतम रूप में लैस करती है।

इस पूरे लोक और मिथक की उपस्थिति को बद्रीनारायण की कविताओं 'पंछी का गीत' और 'समुद्रगाथा' के माध्यम से समझा जा सकता है '

---

[277] कोख, कूड़ेदान और इतिहास, रचना समय, मई-जून, 2011, पृ.सं. 53

"पंछी, सोने की चोंच, चाँदी के पंखों वाले पंछी
उचारी सगुन, जिसमें
पतझर के मारे पेड़ हरे हो जाएँ
और मेरे सीवान के खेत
हरे हो जाएँ मेरी बहिन की गोद
हो जाए गोरा
कर्ज अभावों में करियाया मेरा बदन
.....सूख कर जर्जर हुए सोन के ऊपर
बोलो ऐसे बोल
बरसने लगे चित्रा
बहने लगे पुरवा
सागर के भीतर
हमें भी मिले रत्नों का पहाड़।"[278]

इधर की स्त्री-कविताओं पर भी अनामिका जी ने लोक के बहुत गहरे प्रभाव को स्वीकार किया है - "इस पीढ़ी की ज्यादातर महिला कवि देश के सबसे पिछड़े हिस्सों - बिहार, झारखंड और पूर्वी उत्तर प्रदेश की हैं और उनकी भाषा में अपनी लोक भाषाओं के अजब-गजब शब्द और संदर्भ जिंदा हैं।"[279]

समकालीन हिंदी कविता भी यद्यपि अधिकांशत: गद्यात्मक स्वरूप की है लेकिन उसकी विशेषता लय की उपस्थिति है। यह लयात्मकता उसे विशेष तौर पर आम बोलचाल, लोक और देशज भूमि से जुड़ने के फलस्वरूप प्राप्त हई है।

---

[278] सच सुने हुए कई दिन - बद्रीनारायण, पृ.सं. 63

[279] समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-160, मार्च-अप्रैल 2012, पृ.सं. 143

समकालीन हिंदी कविता के रूप और गठन को समझने के लिए कुछ और अत्यंत महत्वपूर्ण सूत्र हैं। अपने समय की अभिव्यक्ति इस कविता की मुख्य चिंता है, वह समय जो संक्रमणकालीन है जिसमें ऐसी अनेक बड़ी घटनाएं हैं जो आम व्यक्ति के जीवन का स्वभाव तय कर रही हैं, अधिकांशत: नकारात्मक ही रूप में। लेकिन बावजूद इसके प्रतिरोध की शक्तियों का कोई ठोस स्वरूप नहीं उभर रहा है। इसलिए समकालीन हिंदी कविता में अपने 'समय का मेटाफर' केन्द्रीय रूप से अनुपस्थित है। इस मेटाफर की अनुपस्थिति में कोई बड़ी या लम्बी कविता तो संभव नहीं हो पाती है जिसे अपने समय की प्रतिनिधि कविता कहा जा सके लेकिन अपने निश्चित संदर्भों या फोकल प्वाइंट की निश्चितता के कारण बहुत ही अर्थगर्भित, प्रासंगिक कविताएं संभव हुई हैं।

अपनी सहजता, बोलचाल की भाषा और लोक से जुड़ाव के कारण समकालीन कविता को नाटकीय होने की छूट नहीं मिलती है। लेकिन समकालीन हिंदी कविता की इस अनाटकीयता के और भी परिप्रेक्ष्य हैं जिसकी ओर राजेश जोशी ने अपने लेख में संकेत किया है - "एक किस्म का अंडर-प्ले है। मुझे लगता है कि जब वर्चस्व की शक्तियाँ स्वयं अति नाटकीय हों तो उनके विद्रूप को उजागर करने के लिए आत्यन्तिक रूप से दूसरे छोर पर चले जाना जरूरी होता है। हमारी आज की कविता का अंडर-प्ले सत्ता-विमर्श के अति और अक्सर आक्रामक रूप से नाटकीय होने के विपरीत है। हमारे समय का संकट चीजों के ढँके-छिपे होने से नहीं, उनके अति प्रकटीकरण से पैदा हुआ है। इसने कविता के आख्यान में फैंटेसी और वाग्मिता दोनों को ही अगर असंभव-सा नहीं कर दिया है तो उनके चरित्र को बदल जरूर दिया है। एक ओर चीजों और स्थितियों का अतिप्रकटीकरण और दूसरी ओर कविता में चीजों और

ब्यौरों का बढ़ना कई बार विरोधाभासी लग सकता है; लेकिन अतिप्रकटीकरण चीजों की पहचान को समाप्त कर देता है इसलिए दुबारा उन्हें जतलाने की जरूरत होती है।"[280]

समग्रत: अगर पूरे समकालीन हिंदी कविता की संरचनागत वैशिष्ट्य को एक राष्ट्र के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिश करें तो वह 'आख्यानपरकता' हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय की कविता एक ऐसे आख्यान को स्वर देने का प्रयत्न कर रही है जिसे सभ्यता के विकास की व्यस्तता में अनसुना कर दिया गया था। इसीलिए इसका चरित्र महाआख्यान का नहीं है बल्कि साधारण चरित्रों के बहुत मामूली आख्यान है। अगर समकालीन हिंदी कविता के पूरे पटल पर बिखरे इन साधारण आख्यानों को अगर एक सूत्र में जोड़ दिया जाए तो अवश्य एक बड़ी कविता, एक महाआख्यानात्मक कविता उभर सकती है और इसीलिए जिसकी अभी संभावना देखी जा सती है। नब्बे के दशक की कविता के संदर्भ में विजय कुमार का यह विश्लेषण समकालीन हिंदी कविता पर अक्षरश: लागू होता है - "अब शब्दों के बीच छूटी हुई जगहों को दोबारा पढ़ने की जरूरत है। एक संहारक समय के तमाम विवरणों के बीच वह बात एक तत्व ज्ञान की तरह कविताओं में है कि मनुष्य की अधूरी इच्छाओं का एक रहस्य संसार हमेशा गूंजता रहात है, वह अनश्वर है अपने विवरणों और अपने अधूरेपन में, अपने शब्दों और अपनी खामोशियों में। ये कविताएं एक बेहद भौतिक और इकहरी हो चली दुनिया में मनुष्य की जिजीविषा की अधिभौतिक या मेटाफिजिकल सच्चाई बन जाना चाहती है।"[281]

*****

[280] अपने समय का मेटाफर खोजती कविता, आलोचना, अप्रैल-जून 2000, पृ.सं. 248

[281] हर समय के समानांतर चलता है कोई और समय, आलोचना, अप्रैल-जून, 2000, पृ.सं. 256

उपसंहार

कोई भी लेखन रचना या साहित्य का रूप तब ही धारण करता है जब वह व्यापक मानवीय सरोकारों से जुड़ता है। यह बात लगभग मानी जाती रही है कि कोई भी लेखन अपनी कलात्मकता और सुंदरता के बावजूद यदि अपने समय, अपने समाज, उसके संकटों से जुड़ा नहीं है तो वह रचनात्मक-कर्म की कोटि से खारिज ही समझा जाएगा। इसलिए रचनात्मक-कर्म अर्थात् साहित्य की एक मूलभूत शर्त मानवीय सरोकार है और जिसके लिए अपने समय और उस समय के संकटों की पहचान अनिवार्य है। समय और उसके संकट के पहचान की इसी चेतना से इतिहास-बोध और प्रतिरोध की चेतना का संबंध बनता है। इतिहास-बोध रचनाकार की समझ है, वह समझ जो उसे प्रतिमानवीय शक्तियों की पहचान, उसके बयान और फिर सकारात्मक परिवर्तन के पक्ष में खड़ा करता है। यह सकारात्मक परिवर्तन का पक्ष ही प्रतिरोध का पक्ष है जिसके दो मुख्य उद्देश्य कहे जा सकते हैं। एक, प्रतिपक्ष का निर्माण और दूसरा, सकारात्मक, सार्थक और संभव विकल्पों की खोज। विकल्पों के संदर्भ में रचनाकार की सचेतता बहुत अनिवार्य है। अर्थात् विकल्प अपनी संभाव्यता और मानवीय शक्तियों और सीमाओं की परिधि के भीतर से उपजा हो। अतिमानवीय विकल्प तुलसीदास के 'रामराज्य' की ही निर्मिति कर सकते हैं जिसके कितने भी गुण गाये जाएं, उसके नारे लगाए जाएं लेकिन आधुनिक मनुष्य को उससे आश्वासन नहीं मिलता है। इस रूप में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना एक व्यापक और ठोस अवधारणा है और साहित्य-सृजन के मूल तत्वों में है। इतिहास-बोध रचनाकार के लिए आवश्यक दृष्टि और विवेक है। यह अतीत के मोह या अतीतबद्धता से नितांत भिन्न है और इसका गहरा संबंध वर्तमान और भविष्य से भी है। व्यतीत हो चुके, व्यतीत हो रहे और संभावित व्यतीत के दायरे में इतिहास को समझने का प्रयत्न रहता है और रचनाकार उस समझ का रचनात्मक उपयोग करता है। इसलिए इतिहास-बोध की

अवधारणा में अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों का संश्लेष रहता है, तीनों उसमें संगुम्फित होते हैं।

समकालीनता को सामान्य तौर पर 'कालगत' अर्थ में समझा जाता रहा है, लेकिन समकालीनता अपना एक व्यापकत्तर अर्थ धारण करता है जो उसका 'मूल्यगत' अर्थ स्पष्ट करता है। पहला अर्थ जहाँ केवल दो या कई के एक ही समय में होने मात्र को स्पष्ट करता है वहीं दूसरा अर्थात् 'मूल्यगत' अर्थ समय विशेष के साथ सार्थक सरोकार पर बल देता है। इस रूप में समकालीनता कालगत एवं मूल्यगत दोनों ही अर्थ संदर्भों में अपना समग्र अर्थ धारण करता है। अत: समकालीनता प्रदत्त या सहज प्राप्त विशेषता नहीं है, बल्कि उसे अर्जित करना पड़ता है और इसीलिए विवेक, तार्किकता, बोध, तटस्थता, मूल्यांकन-क्षमता, सकारात्मकता इत्यादि इसके विशिष्ट और अनिवार्य उपांग को निर्मित करते हैं। यह मानवता की पक्षधर विचारधारा है और इसीलिए प्रतिमानवीय शक्तियों या विचारों के विरूद्ध सार्थक हस्तक्षेप इसकी विशिष्ट शर्त है।

समकालीनता अपने समानार्थी प्रतीत होने वाले कई शब्दों जैसे - आधुनिकता, समसामयिकता, तात्कालिकता, वर्तमानता आदि से जिस एक महत्वपूर्ण बिन्दु पर भिन्न है वह निरपेक्ष वर्तमानता का अभाव। समकालीनता में अतीत-बोध, परंपरा का ज्ञान एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति विश्वास का एक गहरा भाव समाहित होता है और समकालीनता के इसी महत्वपूर्ण पहलू का संबंध प्रासंगिकता से है। प्रासंगिकता वैसी समय-सापेक्षता है जो व्यतीत-प्रसंगों, रचनाओं, विचारों, मान्यताओं आदि के औचित्यपूर्ण अंशों या मूल्यवत्ता का आकलन-परीक्षण कर उसकी पक्षधरता समकालीन समय में करता है।

समकालीनता की इस अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में अगर समकालीन भारतीय परिदृश्य पर विचार किया जाए तो 15 अगस्त, 1947 ई. की स्वतंत्रता प्राप्ति न केवल नई राजनीतिक लोकतांत्रिक संरचना बल्कि नए मूल्यों एवं जीवन-दृष्टि का भी प्रस्थान बिन्दु है।

आत्मविश्वास, उत्साह एवं स्वप्न से भरा संपूर्ण राष्ट्र आगे बढ़ता है। लेकिन हर्ष एवं उत्साह का यह समय और आगे बढ़ता देश शीघ्र ही मोहभंग का शिकार हो जाता है। विभाजन और अप्रत्याशित युद्धों जैसे बड़े संकटों के साथ ही साथ साम्प्रदायिक तनाव, भ्रष्टाचार, सत्ता-आकांक्षा, जातिवाद, क्षेत्रवाद जैसे अनेक संकट सामने आते गए। राजनीतिक क्षेत्र में आदर्श आधारित बहसों और उद्देश्यों की जगह सत्ता-लोलुपता ने ले ली और इस क्रम में राजनीतिक जमात ने समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियों और असमानताओं का संरक्षण किया। भारतीय लोकतंत्र संकट में दिखने लगा और जिससे उबरने का प्रयत्न आज भी जारी है। लेकिन साथ ही यह भी सच है कई महत्वपूर्ण संदर्भों और अर्थों में लोकतंत्र विकसित और मजबूत भी हुआ है। विशेषकर समाज के सभी समूहों, उनमें भी हाशिए के समूहों, की भागीदारी के संदर्भ में।

इसीलिए सन् 1990 के पहले के समय को हम विपरीत ध्रुवों के बीच विकसित होते देखते हैं। एक ध्रुव पर स्थापित व्यवस्था है जो व्यापक जनसमूह के हित में सक्रिय और कार्यरत होने का दावा तो करता है लेकिन अंततः व्यापक जनसमूह के शोषण का कारण या शोषण की प्रक्रिया में भागीदार बनता है, तो दूसरे ध्रुव पर पहले के शोषक चरित्र के विरूद्ध रचनात्मक और परिवर्तनकामी शक्तियाँ हैं। वस्तुतः ऊपरी स्तर पर तो लोकतंत्र की अवधारणा दोनों ध्रुवों से मिलकर पूरी होती है लेकिन वास्तविक लोकतांत्रिक मूल्यों और संभावनाओं का विकास सामान्य जनता के बीच विभिन्न आंदोलनों और गतिविधियों के माध्यम से इन्हीं रचनात्मक और परिवर्तनकामी शक्तियों के उभार में देखा जा सकता है। समाज के जड़ीभूत परंपराओं, मान्यताओं, प्रथाओं आदि को समाप्त करने में इनकी भूमिका सत्ता-पक्ष से कहीं अधिक प्रभावशाली रही है। दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, स्त्री आदि से संबंधित संभव हो रहे चिंतनों, विमर्शों और परिवर्तनों पर इनका स्पष्ट प्रभाव रहा है।

समकालीन परिदृश्य के संदर्भ में 20वीं सदी का अंतिम दशक अर्थात् 1990-91 से आरंभ होने वाले दशक का निर्णायक महत्व है। सोवियत संघ के बिखराव, अमेरिकी एकध्रुवीय

वर्चस्व स्थापना के साथ ही यह भारत में आर्थिक उदारीकरण के आरंभ होने का भी समय है। इसके साथ ही मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने और बाबरी विध्वंस का भी समय लगभग यही है। भारतीय समाज पर इन तीनों घटनाओं-आर्थिक उदारीकरण, मंडल आयोग की सिफारिशों का लागू होना और बाबरी विध्वंस का व्यापक प्रभाव पड़ा और इसने भारतीय समाज के तीन स्तरों - आर्थिक, जातिगत और सम्प्रदायगत स्तर पर अत्यधिक ध्रुवीकरण का कारण बना। यद्यपि इसमें मंडल आयोग के लागू होने का प्रभाव ऐतिहासिक महत्व का है और बड़े संदर्भ में समाज के लिए सकारात्मक परिवर्तन को लाने वाला सिद्ध हुआ। जातिगत दृष्टिकोण से समाज के बड़े वंचित वर्ग के राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। इसने भारतीय पारंपरिक सामाजिक संरचना और उसकी मान्यताओं में क्रांतिकारी बदलाव किए।

यद्यपि भारतीय संदर्भ में उपरोक्त सभी परिवर्तनों का अपना ऐतिहासिक महत्व है किन्तु आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया का जैसा व्यापक और स्थायी प्रभाव दिखलायी पड़ रहा है वह अभूतपूर्व है। यह भारतीय समाज को क्रमश: अर्थ केन्द्रित करता गया और आर्थिक-सामाजिक रूप से पारंपरिक, रूढ़िवादी, बंद प्रकार का माना जाता रहा भारतीय समाज अचानक शेष विश्व के लिए खुल गया और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का इस रूप में अपने वर्तमान एवं निर्णायक रूप में भारतीय समाज में प्रवेश हुआ। तमाम अन्य परिवर्तनों से अलग यह परिवर्तन भारतीय समाज-व्यवस्था के लिए स्वाभाविक नहीं था। पारंपरिक प्रकार के कृषि-प्रधान और छोटे उद्यमों वाले मूलत: ग्रामीण राष्ट्र के स्वभाव में आधारभूत परिवर्तन शुरू हुआ। बहुसंख्यक ग्रामीण भारत की जगह अचानक अत्यंत अल्पसंख्यक शहरी भारत विकास की चिंता के केन्द्र में आ गया। इसने भारतीय समाज में बड़े पैमाने पर आर्थिक विभाजन की प्रक्रिया आरंभ की। एक तरफ महानगरों की संख्या बढ़ती गयी तो दूसरी तरफ किसानों की आत्महत्या।

इस बाह्य परिवर्तन के साथ ही एक और अत्यंत सूक्ष्म परिवर्तन इसने उपस्थित किया। इसने भारतीय आम व्यक्ति के स्वभाव में भी आधारभूत परिवर्तन किये। अब उसके विचार और कार्य-व्यापार में अर्थ की प्रधानता हो गयी। ग्रामीण एवं सहकारी प्रकार से आर्थिक क्रियाकलाप का आदी भारतीय आम व्यक्ति अब वैयक्तिक आर्थिक विकास के माध्यम से संपन्नता और सुविधा की चिंता करने लगा। इसके दो स्तरों पर तत्काल प्रभाव पड़े - पहला पारिवारिक स्तर पर और दूसरा सामाजिक स्तर पर। इन दोनों ही स्तरों पर संबंधों की भारतीय अवधारणा में एक निश्चित परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है और इसे क्रमश: बढ़ते गये व्यक्ति प्रधानता के संदर्भ में समझा जा सकता है।

इसीलिए इस शोध-कार्य के क्रम में 20वीं सदी के अंतिम दशक से आरंभ होने वाली आर्थिक उदारीकरण - भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को व्यापक महत्व का माना गया है और निर्णायक प्रभाव वाला मानते हुए समकालीनता को इसी संदर्भ में समझने का प्रयत्न भी है। भारत की आज की अधिकांश कार्यशील युवा आबादी को समझने का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूत्र है। समकालीनता के अध्ययन के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि समकालीनता को एक इकाई के रूप में समझा गया है क्योंकि इसी रूप में वृहत्तर समय को यथार्थपरक और संभव तरीके से जाना जा सकता है।

उपरोक्त संदर्भ में ही समकालीन हिंदी कविता का समय निर्धारण 1990 ई. और उसके उपरांत की कविता के रूप में किया गया है।

सन् 1990 और उसके बाद की हिंदी कविता को समझने के क्रम में हिंदी कविता के उस विकासक्रम का भी अध्ययन किया जाना आवश्यक है जिसने पूरी हिंदी कविता के प्रकृति निर्माण में महती भूमिका निभायी है। किसी भी कालखंड में रचना में प्रवृत्त रचनाकार जाने-अनजाने उस परंपरा का सहभागी होता है और अपनी बौद्धिक चेतना के लिए ऊर्जा अवश्य ग्रहण करता है। यही कारण है कि समकालीन हिंदी कविता के इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-

चेतना को उसकी पूरी परंपरा और ऊर्जा-स्रोतों के साथ समझने के लिए आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की हिंदी कविता के उन बिंदुओं का अध्ययन भी किया गया है जो अपने समय विशेष में इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण रहे हैं और जो अपने तमाम उतार-चढ़ाव के बावजूद एक सकारात्मक पक्ष निर्मित करने में सफल रहा है।

हिंदी साहित्य के आरंभ में ही जो 'नाथों और सिद्धों' का साहित्य है वह मूलत: प्रतिरोधी-चेतना का साहित्य है। उसने तात्कालिक रूप से तो ऐतिहासिक उत्तरदायित्व की पूर्ति की ही थी साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसने हिंदी जगत में भावी रचनाओं के लिए मुख्य एजेंडा तय कर दिया। यह एजेंडा साफ-साफ तय करने का है कि साहित्य को किसके पक्ष में खड़ा होना है और किसी भी प्रकार के सत्ता के वर्चस्व से भयभीत हुए बगैर उसे चुनौती देना है अगर वह मानवीय नहीं है। इसीलिए हिंदी कविता का उदय सामाजिक कर्म और दायित्व बोध से अनुप्राणित होकर हुआ था। सिद्धों-नाथों के साहित्य का महत्व यह है कि वह समाज के उस हिस्से का प्रवक्ता बनता है जिसे किसी भी प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा गया। यह बहुसंख्यक वर्ग था किन्तु दास था क्योंकि भारतीय समाज-व्यवस्था वर्णवादी थी जो केवल समाज के एक अल्पसंख्यक वर्ग को, जो जातिगत रूप से अपनी श्रेष्ठता की घोषणा स्वयं करता था, सभी प्रकार के अधिकार प्रदान करती थी। ईश्वरीय अवधारणा जिसका संरक्षण करती थी और जिसे अनेक कर्मकांड पोषित करते थे। सिद्धों-नाथों के साहित्य ने इस शोषित वर्ग का पक्ष लिया और बहुत ही आक्रामक और तार्किक रूप से सभी अमानवीय और भेदभावमूलक सामाजिक मान्यताओं को चुनौती दी। इन सिद्धों-नाथों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव है जिसने वैदिक-संस्कृति और व्यवस्था को पहली बार गंभीर चुनौती दी थी। आज भी भारतीय समाज अनेक जातिगत, अर्थगत, क्षेत्रगत, संप्रदायगत भेदभावों से ग्रस्त है और अगर समकालीन हिंदी कविता अपनी पक्षधरता भेदभाव के विरूद्ध तय करती है और समाज के हाशिए पर धकेल दिए गए वर्गों की

लड़ाई लड़ रही है तो उसके इस संघर्ष का उत्स कहीं-न-कहीं सिद्धों-नाथों की क्रांतिकारी चेतना और प्रयत्न में है।

'भक्तिकालीन हिंदी साहित्य' ने इस क्रांतिकारी चेतना को एक व्यापक और ठोस सामाजिक और साहित्यिक आधार दिया। इसी संदर्भ में इसे 'भारत का पहला नवजागरण' की संज्ञा भी दी जाती है। यद्यपि पूरा भक्तिकालीन साहित्य ईश्वर की केन्द्रीयता के साथ रचा गया है बावजूद इसके उसमें गहन मानवीय सरोकार स्पष्ट हैं। प्रत्येक रचनाकार के यहाँ ईश्वर इसी धरती पर आता है और उसे आम मनुष्य के लिए कष्ट और संताप मुक्त बनाने का प्रयत्न करता है। भक्तिकालीन रचनाकार ईश्वर का सहारा अवश्य लेता है लेकिन उसकी मुख्य चिंता जागतिक है। 'राम-राज्य' की कल्पना भी भले ही आधारहीन और अव्यवहारिक लगे किन्तु उसकी स्थापना होनी है आम-जन के लिए, उसके लिए इस संसार को अधिक सुखदायक एवं पीड़ा मुक्त बनाने के लिए। कबीर आदि संत-कवि तो रचनाकार से अधिक समाज-सुधारक ही हो जाते हैं और आदिकालीन क्रांतिकारिता के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी बनते हैं। संत-साहित्य ने संपूर्ण समाज-व्यवस्था की संरचना के मूलभूत तत्वों पर ही चोट किया और प्रत्येक सामाजिक कार्य और गतिविधि में प्रत्येक जन की भागीदारी की वकालत कर वास्तविक अर्थों में मानवीय गरिमा की स्थापना की दिशा में पहल की। सूफी, कृष्ण आदि सभी शाखाओं ने मानवीय प्रेम पर ही बल दिया है। इस अर्थ में कहें तो संपूर्ण भक्तिकालीन काव्य ने प्रेम तत्व के रूप में उस मूल रहस्य को खोज लिया था जो किसी भी प्रकार के मानवीय संबंध और समरसता का मूल है। उनकी प्रखर मानवीय-पक्षधरता का एक बड़ा प्रमाण उनके द्वारा लोकभाषा का चुनाव भी है जो किसी भी समय की रचनाशीलता की विश्वसनीयता और स्वीकार्यता की आधारभूत शर्त है। भक्तिकालीन साहित्य ने इस संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रतिमान सामने रखे हैं।

'रीतिकालीन साहित्य' पर बड़े आरोप लगते रहे हैं। उसे सामंती-मूल्यों का पोषक, दरबारी-काव्य, जन-समूह और अपने समय के संकटों से निरपेक्ष माना जाता रहा है। ये आरोप प्राय: सत्य हैं। साथ ही इस समय की कविता केवल कला के लिए और वह भी रूढ़िवादी प्रकार के साहित्यिक सिद्धांतों के आधार पर होती रही। लेकिन कुछ बिन्दु ऐसे अवश्य हैं जिनके आधार पर उसका साहित्यिक और वैचारिक महत्व है। सर्वप्रथम तो इसी रीतिकालीन साहित्य के अंतर्गत रीतिमुक्त साहित्य भी है जो स्वयं रीतिबद्धता का निषेध करता है और जीवन एवं साहित्य में अनुभूति की प्रामाणिकता का दावा करता है। यहाँ भी प्रेम ही सबसे बड़ा मूल्य है और वह कृत्रिम एवं उहात्मक नहीं होकर जीवन से उपजा वास्तविक प्रसंग है। भूषण आदि के वीर-काव्य का अपना ऐतिहासिक महत्व है। एक और बहुत ही महतवपूर्ण बात रेखांकित करने योग्य है कि भक्तिकालीन ईश्वर केन्द्रीयता के विपरीत इस काव्य ने 'ऐहिकता' की प्रस्तावना की। मनुष्य और उसकी जागतिक क्रियाएं रचना के केन्द्र में आ गयीं। इस रूप में इसे आधुनिकता का पूर्वगामी ठहराया जा सकता है। कई विद्‌वानों ने रीतिकालीन काव्य का स्वरूप 'गार्हस्थिक' माना है जो अनेक प्रसंगों, ऋतुओं, त्योहारों, उत्सवों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इस सूत्र को लेकर आगे बढ़ें तो यह लोकजीवन का काव्य ठहरता है।

इस प्रकार, अगर इसमें कोई संदेह नहीं कि रीतिकालीन-साहित्य के कई तत्व प्रतिगामी हैं तो इसमें भी संदेह नहीं कि पूर्वाग्रह-मुक्त होकर विचार करने पर उसमें कई प्रसंग सहज जीवन केन्द्रित, सरस, आधुनिक भी हैं। इस प्रकार यह काव्य भक्तिकाल और आधुनिक कविता के बीच एक आवश्यक कड़ी है और जिसकी अपनी ऐतिहासिक उपयोगिता है।

अगर उपरोक्त चर्चा से 'आधुनिक काल' की कविता के लिए कुछ सूत्र खोजें तो आधुनिक काल में मध्यकालीन धर्म और ईश्वर की केन्द्रीयता पूरी तरह खंडित हो जाती है और मनुष्य एवं उसका जीवन, चिंतन और साहित्य-रचना के केन्द्र में आ जाता है। यहाँ मनुष्य अब अपने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संदर्भों में देखा जाने लगता है

जिसके लिए पहली शर्त तार्किकता एवं वैज्ञानिकता मानी जाती है। अर्थात् अब साहित्य रचना के केन्द्र में विशुद्ध रूप में और बहुत ठोस जागतिक समस्याएँ आ गयीं। मनुष्य ने यह तो समझ लिया कि उसे दु:ख है लेकिन अब उसने यह भी समझ लिया कि उसके दु:ख का कारण ईश्वरीय एवं अलौकिक नहीं है। स्पष्टत: लौकिक और मानव-उद्‌बुद्ध है। आधुनिक हिंदी कविता इसी आधार पर उन कारणों की तलाश करती है जिससे आम भारतीय दु:खी है। यहाँ आधुनिक हिंदी कविता पराधीनता को सर्वप्रमुख कारण के रूप में समझती है और प्रतिरोध के स्वर को धीरे-धीरे गति प्रदान करने लगती है। यहाँ पर पराधीनता की समझ काफी व्यापक है और बाहय राष्ट्र के संदर्भ में देखने के साथ ही भारतीय समाज के कई रूढ़िवादी मान्यताओं से घिरे होने के संदर्भ में भी इसे समझा गया है। 'भारतेन्दु-युग' में ही कहा जा सकता है कि कविता के जीवन-बोध से संपृक्त होने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी।

'द्विवेदी-युग' की प्रमुख बात यह रही कि यहाँ राष्ट्र की अवधारणा थोड़ी और स्पष्ट होती है और उसके साथ आत्मसम्मान का भाव जुड़ जाता है और इसीलिए बार-बार अतीत के गौरव का स्मरण है लेकिन वह अनिवार्यत: वर्तमान के संकटों के परिप्रेक्ष्य में। राष्ट्र की अवधारणा के साथ-ही-साथ प्रकृति, नारी, ईश्वर संबंधी अवधारणाओं में इस समय का काव्य आगे आने वाले समय के लिए व्यापक भाव-भूमि तैयार करता है। ईश्वर या तो मनुष्य रूप में है या मनुष्य उससे प्रश्न कर रहा है, नारी की अपनी स्वतंत्र अस्मिता है और वह उसे पाने के लिए प्रश्न कर रही है, प्रकृति पहली बार केवल उद्दीपन-भाव से मुक्त हो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ प्रस्तुत होती है। ये सारे विचार आधुनिकता और ऐहिकता की ही प्रतिध्वनियाँ हैं जिसने मानव-जीवन के प्रति अधिक आत्मीय, निकट का और यथार्थपरक दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता की।

'छायावादी-काव्य' विश्व-दृष्टि का काव्य है जो एक तरफ मनुष्य की आधारभूत समस्याओं को पहचानने और व्यक्त करने का काम करता है तो दूसरी तरफ पराधीनता और

सांस्कृतिक वर्चस्व के विरूद्ध अत्यधिक रचनात्मक रूप से संघर्ष करता है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के लिए 'स्वतंत्रता' की मांग छायावादी काव्य की मूल चेतना है। यह मूलत: संघात से निर्मित काव्य है जो व्यक्ति और समाज के बीच का हो या फिर दो भिन्न संस्कृतियों के बीच। 'कामायनी' के माध्यम से जिस यंत्र-सभ्यता का प्रतिरोध उस समय आया था वह आज भूमंडलीकृत, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समय में पहले से अधिक सार्थक और संवादधर्मी है। इस प्रतिरोध के लिए मौलिक शक्ति या मौलिक चिंतन, जो परंपरा और इतिहास-बोध से निर्मित हो, के सूत्र भी छायावादी काव्य में निहित हैं।

एक अन्य संदर्भ अत्यधिक महत्व का और समकालीन प्रयोजन का है जो महादेवी की काव्य चेतना से निकलता है। स्त्री अन्य माध्यमों से नहीं बल्कि स्वयं और स्पष्ट रूप से अपनी वेदना को अभिव्यक्त करती है। वर्तमान स्त्रीवादी-विमर्श तक जो रास्ता तय हुआ है, उसके लिए हिंदी कविता में आत्मविश्वास और संघर्ष के स्वप्न की शुरूआत महादेवी वर्मा की कविता से मानी जा सकती है।

सामाजिक शोषण और विषमता को वैचारिक रूप से साहित्यिक चिंतन के केन्द्र में लेकर आने का कार्य 'प्रगतिवादी कविता' करती है और इसके लिए उसने जिस यथार्थ-दृष्टि का सहारा लिया वह संपूर्ण भावी साहित्य के लिए प्रेरणादायी बना हुआ है। अगर आज कविता में आम-आदमी, उसका जीवन, उसकी समस्याएं केन्द्र में आ पायी हैं तो इस काव्य विवेक के अर्जन में प्रगतिवादी काव्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसने साहित्य को सोदेश्य और पहले से अधिक उत्तरदायी बनाया।

विज्ञान और प्रविधि के चरम विकास ने मानव को एक जटिल संरचना में तब्दील कर दिया है। मनुष्य अपने सामाजिक उत्तरदायित्व और व्यक्तिगत इयत्ता के बीच संतुलन बनाने में असहाय महसूस कर रहा है। किसी एक की शर्त पर दूसरे को नकारने का परिणाम व्यक्तित्व विघटन और अवसाद का कारण बन रहा है। इसलिए आम मनुष्य के जीवन में नये

सिरे से अर्थ-संदर्भों की खोज की आवश्यकता दिखायी पड़ती है और अगर यह खोज आवश्यक है तो 'प्रयोगवादी हिंदी कविता' के महत्व का कोई आधार भी खोजा जा सकता है। उत्तरदायित्व-बोध के लिए व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता और स्वतंत्रता अनिवार्य है और इस अनिवार्यता की ओर पहल प्रयोगवाद करता दिखता है।

पहली बार स्वाधीन और प्रजातांत्रिक देश में रचे गए काव्य के रूप में 'नई कविता' कई अर्थों में अत्यधिक ऊर्जावान और संभावनाशील है। 'समग्र मनुष्य' की तलाश की प्रक्रिया में शामिल होते हुए 'समग्र अनुभव-खंडों' को काव्य में संयोजित करने का यह महत्वपूर्ण कार्य करती है। इसीलिए पहली बार साधारण जीवन अपने साधारण प्रसंगों और जीवन स्थितियों के साथ कविता के भीतर स्थान बनाता दिखता है। यहाँ यह द्वितीयक रूप में नहीं अपितु प्राथमिक रूप से उपस्थित है। 'लघुमानव' की अवधारणा का सूत्रपात इसी कारण संभव हो पाता है। लघुता जो हीनता से मुक्त और अथाह संभावनाओं से युक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो एक स्वतंत्र राष्ट्र का स्वतंत्र मनुष्य स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है जो अपनी भूमिका व्यापक सामाजिक संदर्भों में तलाश करना चाहता है। यही कारण है कि नयी कविता का एक महत्वपूर्ण आयाम उसकी राजनीतिक चेतना है। एक ओर साधारण व्यक्ति सामाजिक संदर्भों में अपनी भूमिका खोज रहा है तो दूसरी तरफ देश का जो राजनीतिक वातावरण तैयार हो रहा था, वह मोहभंगकारी था। अवसरवादी राजनीति ने मूल्य-आधारित राजनीति को स्वतंत्रता के बहुत ही आरंभिक वर्षों में स्थानापन्न कर दिया और राष्ट्रीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धताओं से जुड़ने की बज़ाय सत्ता-प्राप्ति एकमात्र लक्ष्य रह गया। नयी कविता ने एक संभलते और बनते राष्ट्र की इस विडम्बना और विवशता को बहुत ही प्रामाणिक स्वर दिया है। यह विडम्बना और विवशता आज भी राष्ट्र के समक्ष है और इसीलिए आज की काव्य-चेतना के लिए नयी-कविता अत्यंत प्रेरणादायी और पथ-प्रदर्शक है।

इसके बाद की हिंदी काव्य-धारा में मुख्यत: चर्चा आती है 'अकविता' और 'जनवादी-कविता' की। अकविता में भी एक गहरा मोहभंग है लेकिन रचनाकार इससे मुक्ति के लिए संघर्ष की बजाए आत्मग्रस्तता का सहारा लेता है और विकृति एवं कुंठा की अभिव्यक्ति होने लगती है। इसलिए अपनी स्थितियों के विरूद्ध यह रचनाकार की मानसिक प्रतिक्रिया भर होकर रह जाती है।

यद्यपि धूमिल का भी संबंध अकविता आंदोलन से रहा है किन्तु इन्होंने हिंदी कविता को वापस गंभीर दिशा में मोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। ये जनवादी-कविता के आरंभिक प्रस्तावकों में रहे और इनकी विशिष्टता इनकी राजनीतिक-चेतना है। यहाँ व्यवस्था से मोहभंग प्रतिरोध की सकारात्मकता का आकार लेती है और कवि प्रजातंत्र के बुनियादी सवालों को बहुत ही निर्भीक भाषा में व्यक्त करना आरंभ करता है। यहाँ कवि 'दूसरे प्रजातंत्र की तलाश' की बात करता है। क्योंकि व्यवस्था-जनित जिन शब्दों को कवि अपनी कविता में बार-बार लाता है वह अर्थहीन हो गये हैं। इसीलिए 'प्रजातंत्र', 'संसद', 'स्वतंत्रता' जैसे शब्द अब आश्वासन नहीं देते हैं। ये शब्द एक शोषक व्यवस्था को वैध बनाने से अधिक कुछ भी नहीं करते हैं।

यद्यपि जनवादी-कविता से कई ऐसे कवि नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल आदि भी जुड़े जिनका संबंध पहले प्रगतिवादी कविता से रहा है किन्तु जनवादी और प्रगतिवादी कविता में सांस्थानिकता और वैचारिक प्रतिबद्धता के स्तर पर एक व्यापक अंतर उपस्थित होता है। इसीलिए जनवादी-कविता में 'अनुभव की स्वाधीनता' पर विशेष बल दृष्टिगोचर होता है। जनवादी कविता की ऐतिहासिक चेतना आकांक्षा, उसकी पूर्ति के लिए संघर्ष और संघर्ष के सामूहिक स्वरूप की प्रस्तावना में सुरक्षित है। बाजार और साम्प्रदायिकता जैसे खतरे जो समकालीन हिंदी कविता में आकर महत्वपूर्ण हो जाते हैं, कि पहचान जनवादी कविता की अग्रगामिता का प्रमाण है।

समकालीन हिंदी कविता के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह किसी भी विषय को उसके पूरे ऐतिहासिक विकास-क्रम के साथ देखने का यत्न करती है। ऐसा अधिकांश विषयों के समस्यामूलक होने के कारण है। समकालीन कवि समस्याओं का केवल उल्लेख भर नहीं करता वरन् उसके स्रोतों, अन्य रूपों, प्रभावों आदि अर्थात् कई कोणों एवं समग्रता से देखने की कोशिश करता है। विकास के तमाम दावों और तथाकथित आधुनिक एवं शिक्षित होते जा रहे समाज में ऐसी अनेक समस्याएं कवि को व्यथित करती हैं जिनकी निरंतरता लम्बी कालावधि से बनी हुई है।

समकालीन हिंदी कविता अत्यधिक विकसित हो गये मनुष्य और समाज को मुख्यत: दो स्तरों पर निरंतर चुनौती देती है। संवेदना एवं संबंधों के स्तर पर और सामाजिक उत्तरदायित्व के स्तर पर। दोनों ही स्तरों पर समकालीन हिंदी कविता ने विकास के दावों पर संदेह किया है और मानवता के संकट में तब्दील हो जाने की संभावना व्यक्त की है। यह चिंता बहुत ही सघन किंतु संक्षिप्त रूप में विभिन्न समकालीन कविताओं में दिखलायी पड़ती है। इस रूप में देखें तो अधिकांश कविताएं अपने आप में अलग-थलग दिखलायी पड़ती हैं, मानो किसी बड़ी चिंता, विचार, संकट के अंश की अभिव्यक्ति कर रही हों। इसीलिए समकालीन हिंदी कविता के मध्य कोई महान या बड़ी कविता की अनुपस्थिति देखी जा सकती है। लेकिन साथ ही यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं, एक तो यह कि जीवन के जिन संकटों की अभिव्यक्ति कविता में हो रही है वह बहुकेन्द्रित एवं अनेक स्तरीय है जिसकी एक ठोस सामूहिक संरचना अभी उभरनी बाकी है। इसीलिए इसे संक्रमणकालीन और प्रक्रिया की कविता कहा जा सकता है। दूसरी बात इसी से जुड़ी यह है कि समकालीन हिंदी कविता को एकीकृत या समग्रता में देखने पर एक बड़ी कविता का स्वरूप स्पष्ट होता दिखता है।

समकालीन हिंदी कविता संबंधों में बढ़ते तनाव को रेखांकित करती है और कारणों की तलाश में वह लगातार बढ़ती हुई अर्थ की केन्द्रीयता की ओर जाती है। स्वाभाविक और सहज

संबंधों का अभाव होता जा रहा है जिसकी खानापूर्ति सोशल नेटवर्किंग से उपजे संबंध नहीं कर पा रहे हैं। व्यक्तिगत या सामाजिक प्रत्येक स्तर पर संबंध-निर्माण की पहली शर्त लाभ-हानि का हिसाब हो गया है जो कहीं-न-कहीं अर्थकेन्द्रित, बाजारवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति की प्रतिध्वनि है। समकालीन हिंदी कविता आज के इस ग्लोबल, सहज उपलब्ध, असंख्य मुमकिन संबंधों के संजाल के बीच भी मनुष्य के लगातार अकेले पड़ते जाने की पीड़ा, विवशता को हरसंभव सामने लाती है।

समकालीन हिंदी कविता ने भौतिक समृद्धि के बढ़ते हाहाकार के बीच असंतुलित विकास और अभी भी समाज के बड़े हिस्से द्वारा मूलभूत आवश्यकताओं के लिए जूझते रहने की विवशता को मुख्य मुद्दे के तौर पर देखा है। समृद्धि बनाम भूख की लड़ाई अनेक कविताओं में देखी जा सकती है। यहाँ पक्षधरता तो स्पष्टत: भूख से संघर्षरत आबादी के प्रति दिखती है लेकिन समस्या के अनुपात में कविता की प्रखरता में कमी देखी जा सकती है। मानव सभ्यता के विकास पर सबसे बड़े प्रश्नचिह्न इस समस्या पर कवि की दृष्टि कहीं-कहीं समझौतावादी जान पड़ती है। कवि-समाज और संघर्षरत-समाज के बीच अलगाव और संवाद की अनुपस्थिति को इसका कारण माना जा सकता है।

समकालीन हिंदी कविता ने भूमंडलीकरण और बाजारवाद को पराधीनता के नये दुष्चक्र के रूप में देखा है। बहुत ही तार्किक रूप से इस समय की कविता ने भारत जैसे गरीब देश के संसाधनों और स्रोतों पर लगातार संपन्न, शक्तिशाली विकसित पश्चिम देशों के कब्जे को समझा है और सामने लाने का काम किया है। यह नया साम्राज्यवाद है, उपनिवेशवाद है लेकिन इसकी विडम्बना पहले से अधिक इस रूप में है कि इसमें पराधीनता का बोध नहीं है। सत्ता के सारे केन्द्र राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक सभी इसमें न केवल शामिल हैं बल्कि जश्न के साथ शामिल हैं। समकालीन कविता की चिंता का कारण सबसे मुख्य यही है क्योंकि इस कारण प्रतिरोध की शक्तियों का उत्थान नहीं हो पा रहा है। समकालीन हिंदी कविता ने इस

तथ्य को बार-बार रेखांकित किया है कि कैसे एक आम व्यक्ति के भीतर ही शोषक चरित्र का विकास हो रहा है। यह आम व्यक्ति कहीं भी होते हुए इस ग्लोबल लूट का हिस्सा बनना चाहता है और जो दिल्ली को देश समझता है और देश को अमेरिका में तब्दील हो जाने की आकांक्षा में जी रहा है। इसलिए प्रतिरोध कहीं नहीं है। बल्कि केवल समृद्धि की होड़ में शामिल हो जाने की जल्दबाजी है। इस प्रक्रिया ने समाज में पहले से मौजूद हाशिए के समाज को तो और पीछे धकेला ही है, नये सिरे से हाशिए के समाजों को जन्म देने का काम किया है। इसीलिए समकालीन हिंदी कविता ने अपनी चिंता के दायरे में दलित, आदिवासी, किसान, स्त्री, श्रमिक, स्लमवासी, निम्न मध्य वर्ग को केन्द्रीय स्थान दिया है।

भारत जैसा कृषि प्रधान देश आज एक बड़ी विडम्बना से गुजर रहा है -कृषि क्षेत्र और उससे जुड़े लोगों की स्थिति निरंतर दयनीय होती जा रही है और संकट की गंभीरता का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि जब भारत की आर्थिक उन्नति के दावे किए जा रहे हैं उसी समय लगभग दो से तीन लाख किसानों ने आत्महत्या की है और लाखों किसानों ने कृषि को त्याग दिया है। भारतीय संदर्भ में, जिसकी लगभग तीन चौथाई आबादी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष से कृषि क्षेत्र से जुड़ी हुई है और उसी पर जीवन-यापन के लिए निर्भर है, यह संकट अपूर्व है। समकालीन हिंदी कविता द्वारा जहाँ इस संकट के पहचान की बात तो है लेकिन उस पर आरोप लगता है कि इस संकट की अपूर्वता और भयावहता को पहचानने में वह चूक गयी है और अगर कुछ प्रतिरोध-प्रतिक्रियाएं आयी भी हैं तो बहुत विलम्ब से। हिंदी कविता के लगातार शहरीकरण को भी एक कारण माना गया है और संभवत: एक कारण यह हो कि किसानों की अधिकांश आत्महत्याएं हिंदी क्षेत्र से बाहर हुई हैं। तो क्या हिंदी कवि इस समस्या के हिंदी-क्षेत्र में पहुँचने की प्रतीक्षा में है? यह आरोप बहुत हद तक सत्य है और समकालीन हिंदी कविता ने इस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का निर्वाह पूरी तरह से नहीं किया है। लेकिन बावजूद इस स्थिति के, जो कविताएं इस संकट को सामने लाने का काम करती हैं वे

महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाती हैं। भूख और मृत्यु के बीच के किसान जीवन को भी सामने लाती है और शेष संपन्न समाज को कठघरे में खड़ा करती है। समकालीन हिंदी कविता ने इस संदर्भ में उत्तरदायित्व तय करने का महत्वपूर्ण काम किया है। किसानों की अधिकांश समस्याओं के लिए भूमंडलीकरण और बाजार को वर्तमान संदर्भ में उत्तरदायी ठहराया है। उसने राजनीतिक सत्ता और बाजार (पूंजीपति) के उस गठबंधन की पहचान की है जो व्यापक समाज की बलि ले रहा है।

समकालीन हिंदी कविता के भीतर जिस एक विषय ने पर्याप्त प्रमुखता प्राप्त की है वह स्त्री की अस्मिता के प्रश्न एवं उसकी सामाजिक स्थिति है। समाज में लगभग आधी आबादी की हैसियत रखने और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी योग्यता एवं सक्षमता प्रमाणित करने के बावजूद स्त्री आज भी पितृसत्तात्मक वर्चस्व से संघर्षरत है। पारंपरिक प्रकार की यातना-युक्तियाँ तो आज भी समाज में है ही, उपभोक्तावादी समाज ने स्त्री-शोषण के कई नये उपाय खोज लिए हैं। इसीलिए आज स्त्री के समक्ष बड़ी विडम्बनापूर्ण स्थिति बन जाती है जब वह मुक्त होने के भ्रम और पुरुष वर्चस्व के नये रूपों के बीच स्वयं को पाती है। समाज कई अर्थों में स्त्री के प्रति पहले से अधिक हिंसक होता जा रहा है। स्त्रीवादी आंदोलनों के संघर्ष की राह अभी लम्बी दिखती है और आश्वस्तिदायक बात यही है कि संघर्ष जारी है और नये साझीदार निरंतर इससे जुड़ते जा रहे हैं।

समकालीन हिंदी कविता ने इस शोषण और संघर्ष की गाथा को बहुआयामिता के साथ व्यक्त किया है। इसने स्त्री की बहुत ही सरल मांग कि, उसे एक देह मात्र, आमोद-प्रमोद की वस्तु नहीं मानकर एक मुकम्मल, सक्षम, पुरुष के समान व्यक्तित्व वाला समझा जाये, को अपने साथ साझा किया है। इस मांग को केवल भावनात्मक प्रस्फुटन या सहानुभूतिपूर्ण उद्गार भर न समझ लिया जाए इसलिए समकालीन हिंदी कविता इस विषय को लेकर गंभीर विवेचन करता जान पड़ता है और बहुत ही तार्किक रूप से परतंत्र बनाये जाने के इतिहास से लेकर

वर्तमान समाज के लगातार मानवाधिकार संवेदन होते जाने के दावे के बीच स्त्री शोषण के नये दुष्चक्रों को सामने लाता है। समकालीन हिंदी कविता इस विषय के संदर्भ में काफी सजग इतिहास-बोध से युक्त है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक प्रत्येक स्तर पर स्त्री को संसाधनों और संपदाओं से दूर करने के पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता और षड्यंत्र से इस समय की कविता कहीं भी समझौता करती नहीं दिखती है। यद्यपि कुछ नये प्रसंगों जैसे घरेलू-श्रम, कार्य स्थलों पर यौन-हिंसा आदि से जुड़ने की आवश्यकता महसूस की जा सकती है।

समकालीन हिंदी कविता ने इस स्त्री-संघर्ष में साझेदारी के क्रम में एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह किया है। स्त्री-समाज और उसकी समस्याओं की सही समझ बनाने के क्रम में इसने हाशिए के समाज की चिंता, विशेषकर दलित-विमर्श को भी शामिल किया है। इस रूप में जाति-दंश भोगती मुख्यत: श्रमिक स्त्रियों के स्वर को अधिक प्रामाणिकता के साथ देखा जा सकता है।

समकालीन हिंदी कविता ने बार-बार इस बात को रेखांकित करने का काम किया है जिसे उसकी तरफ से समाज के सामने रखी गयी मांग के रूप में देखा जा सकता है कि स्त्री ने समाज के प्रति कभी भी अपने उत्तरदायित्व, अपनी प्रतिबद्धता से समझौता नहीं किया है जबकि शेष समाज द्वारा उसका प्रतिफल उसे दिया जाना अभी बाकी है। एक समग्र समाज की अवधारणा इसके बिना हमेशा प्रश्नांकित ही रहेगा। इसके लिए समकालीन कविता ने आग्रह और चेतावनी दोनों ही भाषाओं का प्रयोग किया है।

समकालीन हिंदी कविता में इतिहास-बोध और प्रतिरोधी-चेतना का सबसे सक्रिय स्थल निस्संदेह दलित एवं आदिवासी-विमर्श से संबंधित है। समकालीन हिंदी कविता भारतीय सामाजिक-संरचना की हजारों वर्षों से जारी इस अमानवीय वर्ण, जाति, प्रजाति-व्यवस्था को पहचानने में कहीं नहीं चूकती है। मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करने की इस नस्लवादी भारतीय संस्करण का प्रतिरोध कविता लगातार कर रही है क्योंकि स्वतंत्रता के छः दशक गुजर जाने,

समाज के तथाकथित जागरूक, शिक्षित, मानवीय होने के दावे, कानूनी-संरक्षणों, आरक्षणों आदि के बावजूद यह व्यवस्था जारी है। कई संदर्भों में तो स्थिति अधिक जटिल और भयावह हुई है क्योंकि दलित समाज के सदस्यों की हत्या या नरसंहार तो आज भी जारी ही है, मुख्यधारा में किसी तरह अपना स्थान बना सकने में सक्षम इस समाज के व्यक्तियों के समक्ष ऐसी स्थितियों को पैदा किया जा रहा है जिससे वे लगातार हताशा के कारण आत्महत्या जैसे कदम को उठाने के लिए विवश हैं। दलित-आदिवासी समाज के मेधावी आबादी को खत्म करने का यह सुनियोजित षड्यंत्र है, क्योंकि इससे तथाकथित मुख्यधारा का सवर्ण तबका विशेषकर दो असुविधाओं से बच जाता है। पहली, तो उस समाज से, जिसे सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से दूर रखा गया, मिलने वाली बौद्धिक चुनौती से ताकि इस भ्रम को बनाये रखा जा सके कि ज्ञान पर एकाधिकार केवल सवर्णों का है और उसे प्राप्त करने में केवल वही सक्षम है। दूसरी, इन शिक्षित और सक्षम दलित-आदिवासी समाज के सदस्यों द्वारा अपने समाज को जागरूक और परिवर्तनकामी बनाने से। समकालीन हिंदी कविता इस पूरे संदर्भ और षड्यंत्र को पकड़ती है और यही कारण है कि शंबुक, एकलव्य जैसे पात्रों की आवाजाही उसमें लगातार होती है।

समकालीन हिंदी कविता में इस समाज के शोषण के तमाम विवरण हैं लेकिन उसमें भी इस मूलत: श्रमिक समाज के सामने जो भूख की समस्या है उसके बार-बार और गंभीर चित्रण के पीछे गहरे निहितार्थ हैं। एक तो यह कि यह किसी भी मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है और दूसरा कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल कारणों की तलाश इस रूप में कविता अपने स्तर पर करती दिखती है। समकालीन हिंदी कविता में यह ध्वनि मौजूद है कि जाति-व्यवस्था का मूल कारण आर्थिक है अर्थात समाज के एक छोटे से भाग द्वारा अधिकांश समाज को सभी प्राकृतिक संसाधनों और संपदाओं से विमुख करने वाली यह व्यवस्था है। धर्म आदि की भूमिका संरक्षणकारी की है जो इस भेदमूलक अमानवीय व्यवस्था

को वैध और स्थायी बनाने का काम करते हैं। यही कारण कि समकालीन हिंदी कविता में अगर भूख है तो बार-बार ईश्वर भी है। जाति-व्यवस्था के वैध, नैतिक और स्थायी आधार पर इस तरह समकालीन कविता पुरजोर चोट करती है। यही कारण है कि समकालीन हिंदी कविता के प्रतिरोध की यह यात्रा बार-बार इतिहास की घटनाओं, व्यक्तियों आदि से आरम्भ होती है और वर्तमान तक आती है मानो शोषण की निरंतरता की पहचान और उपस्थिति को दर्ज करने का प्रयत्न है। इस रूप में यह सभ्यता-समीक्षा की कविता बन जाती है जो इतिहास का नये रूप में देखने और दर्ज करने की वकालत करती है।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य रेखांकन योग्य यह है कि वैसे तो सभी वर्ग के रचनाकारों में जाति व्यवस्था के दंश, दु:ख और उनके कारणों की खोज के प्रयास तो हैं लेकिन इस व्यवस्था से उपजा अपमान-बोध और उसके विरूद्ध प्रतिरोध का स्वर जो दलित वर्ग से आये रचनाकारों में है वैसा अन्य वर्ग के रचनाकारों में नहीं है। कहीं-न-कहीं आत्मानुभूति बनाम सहानुभूति का प्रश्न विचारणीय हो जाता है। आत्मानुभूति की कविताएं मन, बुद्धि, संस्कारों, मान्यताओं, अभिमान को झकझोरने में अधिक सक्षम हैं और गहरे स्तर पर आंदोलित करती हैं। उल्लेखनीय है कि तुलनात्मक रूप में स्त्री-रचनाकारों में ऐसे प्रखर स्वर की कमी दिखती है या उसका अपने शोषक-वर्ग के साथ एक सहूलियत और समझौतावादी संघर्ष का स्वर है।

आदिवासी-समाज के मुद्दों को सामने लाने वाली कविताओं में कुछ बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहली बड़ी चिंता संस्कृति-रक्षा की है क्योंकि समकालीन हिंदी कविता इस तथ्य से अवगत है कि आदिवासी समाज एक संपन्न सांस्कृतिक धरोहर से युक्त है जिसे विकास आदि के नाम पर मुख्यधारा में कभी शामिल करने के नाम पर तो कभी उनके प्राकृतिक आवासों से विस्थापन के लिए विवश कर, समाप्त करने का यत्न किया जा रहा है। इसलिए इन संदर्भों वाली कविताएं अस्मिताबोध के प्रखर स्वरूप को व्यक्त करती हैं।

आदिवासी-समाज की आज एक बड़ी चिंता विस्थापन की है जो आर्थिक-उदारीकरण, भूमंडलीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा उन पर लादा जा रहा है। यह तथ्य है कि आदिवासी-निवास के क्षेत्र प्राकृतिक-संसाधनों, खनिजों, वन-संपदाओं से भरपूर हैं। मुख्यधारा का समाज उनके अबाध उपयोग के लिए या तो आदिवासी समाज को विस्थापित कर रहा है या फिर 'ग्रीन-हंट' जैसे उपायों से खत्म कर रहा है। इसलिए समकालीन हिंदी कविता इस संस्कृति-रक्षा, अस्मिता-रक्षा, जीवन-रक्षा, प्रकृति-पर्यावरण रक्षा के पहलू को भी अपनी चिंता की परिधि में महत्वपूर्ण स्थान देती है। एक कदम आगे बढ़कर वह आदिवासी समाज को संघर्ष के लिए उद्वेलित करने के क्रम में संघर्ष की परंपरा की बार-बार याद दिलाती है। पुरखों की स्मृति आकस्मिक और प्रयोजनहीन नहीं है।

समकालीन हिंदी कविता ने अपनी कालावधि के भीतर ही घटित एक और मुद्दे को काफी संजीदगी से उठाया है। यद्यपि सांप्रदायिकता का इतिहास तो काफी पुराना है और भारतीय समाज की एकीकृत और समग्र अवधारणा को काफी लंबे समय से चुनौती देता रहा है, सन् 1992 की बाबरी विध्वंस की घटना और सन् 2002 के गुजरात दंगे ने इस समय की कविता को गहरे स्तर तक आंदोलित किया है। समकालीन कवि समाज के इस चरित्र को समझने का अथक प्रयास करता है और उन दावों के बरक्स भी समझने का प्रयत्न करता है जो देश के महाशक्ति बनने और आर्थिक समृद्धि के संदर्भ में किये जा रहे हैं। 21वीं शताब्दी में प्रवेश के शोरगुल के बीच इस अहम प्रश्न को नजरअंदाज किया जा रहा है। समकालीन कविता इस समस्या के बने रहने और बार-बार उभर आने के पीछे राजनीतिक शक्तियों को प्रमुख रूप से उत्तरदायी ठहराती है जो सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के माध्यम से सत्ता-प्राप्ति की कोशिश में लगे हुए हैं। इस मुद्दे को लेकर भी यद्यपि कविताओं की संख्या बहुत अधिक नहीं है और मुख्यत: घटनाओं के तात्कालिक प्रभाव के रूप में प्रतिरोध को दर्ज करने के लिए लिखी गयी हैं तब भी वह सांप्रदायिक हिंसा और राजनीति के शिकार एक आम-व्यक्ति की

व्यथा को कह पाने में बहुत हद तक सफल है। समकालीन हिंदी कविता ने व्यक्ति को किसी भी सांप्रदायिक खांचे में नहीं देखकर उसे आम व्यक्ति के रूप में देखने का यत्न किया है जो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्षरत है और जो बड़ी मुश्किल से अपना जीवन-यापन करता है। सांप्रदायिक हिंसा का शिकार सबसे अधिक किसी भी संप्रदाय का यही मुहाने पर खड़ा आम व्यक्ति है जो जीवन भर धर्मभीरू बना रहता है और अंतत: उसी की बलि चढ़ जाता है। समकालीन हिंदी कविता ने इस तथ्य को बार-बार रेखांकित किया है कि ऐसी हिंसाओं से समाज में एक स्थायी आशंका एवं भय का वातावरण निर्मित हो जाता है जो सामाजिक सौहार्द्र के तंतुओं को स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त कर देता है। इस समय की कविता ने ऐसी हिंसाओं से जुड़े उस घृणित सच को भी बार-बार सामने लाया है जो किसी भी समाज की स्त्रियों को बलात्कार के रूप में भुगतना पड़ता है। एक कौम की अस्मिता और स्वाभिमान पर स्थायी खरोंच देने के नाम पर दंगाई भीड़ में शामिल हर व्यक्ति अपनी दमित काम-भावना की तृप्ति का आसान जरिया एक विवश, असहाय स्त्री को पाता है। समकालीन हिंदी कविता ने इस बड़े संदर्भ के भीतर भी स्त्रीवादी-विमर्श के उस कोण को शामिल करने का काम किया है जो अंतत: एक पुरुष बनाम स्त्री का है।

इस कविता ने उस कोण को भी समझने का प्रयत्न किया है जो लगातार भयावह होती जा रही आतंकवाद की समस्या का है। आज किसी धर्म विशेष की चौहद्दी से बाहर अधिक जटिल रूप से सामने आती इस समस्या को समकालीन हिंदी कविता इस रूप में समझने का प्रयत्न करती है कि क्या सामाजिक स्तर पर सांप्रदायिक भेदभाव और विभाजन के बने रहते और उसे पोषित करने वाली शक्तियों के बने रहते इसे समाप्त किया जा सकता है?

समकालीन हिंदी कविता ने इस पूरे प्रकरण को उठाकर एक सीमा तक ही सही हिंदी कविता पर लगने वाले उस आरोप कि उसने विभाजन और उससे जुड़ी समस्याओं और भारतीय समाज पर उसके दुष्प्रभावों पर कम ही चिंता व्यक्त की और सांप्रदायिकता के प्रश्न

को गंभीरता से लेने का काम नहीं किया है, दूर करने के ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह किया है। लेकिन भारतीय समाज के दो सबसे बड़े नासूर वर्ण-व्यवस्था और सांप्रदायिकता के मुद्दे पर जिस आंदोलनकारी स्वरूप को अख्तियार करने की आवश्यकता है उसमें समकालीन हिंदी कविता के द्वारा अभी और काम किया जाना शेष है।

समकालीन हिंदी कविता कला-पक्ष को संवेदना-पक्ष से स्वतंत्र नहीं मानती बल्कि अपनी प्राथमिकता स्पष्ट भी करती है, जो संवेदना-पक्ष के प्रति है। समकालीन हिंदी कविता वस्तुत: आम-व्यक्ति और जीवन को रचना के केन्द्र में लाने का प्रयत्न करती है और इसीलिए आम बोलचाल की भाषा, लोक-स्मृतियों, कथाओं, मिथकों को भी अपने कलेवर में महत्वपूर्ण स्थान देती है। वह संवादधर्मी बनने की प्रक्रिया में 'संबोधन' आदि तरीकों को अपनाती है। आम-चरित्रों को उसकी पूरी साधारणता के साथ उपस्थित करती है। अस्मितामूलक कविताओं में इसे और भी प्रामाणिक रूप से देखा जा सकता है, साथ ही वहाँ भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से प्रतिरोधी-चेतना की गहन उपस्थिति है। अपने पूरे संदर्भ को प्रामाणिकता के साथ लाने के लिए वह आख्यानों की युक्ति भी प्रयोग में लाती है।

*****

संदर्भ-ग्रंथ सूची

I. आधार-ग्रंथ

क्र.सं.	लेखक/संपादक	पुस्तक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अनामिका	बीजाक्षर	भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1993
2.	अनामिका	अनुष्टुप्	किताब घर, नई दिल्ली	प्र.सं. 1998
3.	अनामिका	खुरदुरी हथेलियाँ	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2005
4.	अनामिका	दूब-धान	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	प्र.सं. 2007
5.	अम्बुज, कुमार	किवाड़	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 1992
6.	अम्बुज, कुमार	क्रूरता	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1996
7.	अम्बुज, कुमार	अतिक्रमण	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2002
8.	कर्दम, जयप्रकाश	गूँगा नहीं था मैं	अतीश प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1997
9.	कर्दम, जयप्रकाश	तिनका तिनका आग	सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2004
10.	कमल, अरुण	नये इलाके में	वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली	प्र.सं. 1996
11.	करण, पवन	स्त्री मेरे भीतर	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2006 (पेपरबैक्स)
12.	कात्यायनी	इस पौरुषपूर्ण समय में	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1999
13.	कात्यायनी	जादू नहीं कविता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2002
14.	कुमार, विजय	चाहे जिस शक्ल से	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1996

15.	कुमार, विमल	सपने में एक औरत से बातचीत	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 1992
16.	गिल, गगन	अँधेरे में बुद्ध	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1996
17.	ग्रोवर, तेजी	लो कहा साँबरी	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	प्र.सं. 1994
18.	ग्रोवर, तेजी	अन्त की कुछ और कविताएँ	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2000
19.	चांगेसिया, रमेशचन्द्र	उजाला	मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादमी, उज्जैन	प्र.सं. 1995
20.	जगूड़ी, लीलाधर	भय भी शक्ति देता है	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1991
21.	जगूड़ी, लीलाधर	अनुभव के आकाश में चाँद	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1994
22.	जोशी, राजेश	नेपथ्य में हँसी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1994
23.	जोशी, राजेश	धूप घड़ी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2002
24.	तिलक, रजनी	पदचाप	सेंटर फॉर अल्टरनेटिव दलित मीडिया, दिल्ली	प्र.सं. 2000
25.	दुबे, विनय	भीड़ के भवभागर में	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2009
26.	देवताले, चंद्रकांत	पत्थर की बैंच	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1996
27.	देवताले, चंद्रकांत	पत्थर फेंक रहा हूँ	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
28.	धन्वा, आलोक	दुनिया रोज़ बनती है	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1998
29.	टाकभौरे, सुशीला	यह तुम भी जानो/तुमने उसे कब पहचाना	स्वराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1994-95

30.	टाकभौरे, सुशीला	स्वाति बूंद और खारे मोती	शरद प्रकाशन, नागपुर	प्र.सं. 1993
31.	डंगवाल, वीरेन	दुश्चक्र में स्रष्टा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2002
32.	डबराल, मंगलेश	हम जो देखते हैं	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1995
33.	नारायण, बद्री	सच सुने कई दिन हुए	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1993
34.	नारायण, ब्रदी	शब्दपदीयम्	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2004
35.	नारायण, बद्री	खुदाई में हिंसा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
36.	प्रकाश, उदय	रात में हारमोनियम	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1998
37.	प्रकाश, उदय	अबूतर कबूतर	स्वर्ण जयंती, दिल्ली	प्र.सं. 2005
38.	बेचैन, श्योराज सिंह	क्रौंच हूँ मैं	सहयोग प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1995
39.	मीणा, हरिराम	रोया नहीं था यक्ष	जगतराम एंड सन्स, नई दिल्ली	सं. 2008 (पेपरबैक्स)
40.	मीणा, हरिराम	सुबह के इंतजार में	अक्षरशिल्पी, दिल्ली	सं. 2008
41.	मीणा, हरिराम (संपादक)	समकालीन आदिवासी कविता	अलख प्रकाशन, जयपुर	प्र.सं. 2013
42.	राग, पंकज	यह भूमंडल की रात है	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2009
43.	रघुवंशी, नीलेश	घर-निकासी	किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2009 (पेपरबैक्स)
44.	रघुवंशी, नीलेश	अंतिम पंक्ति में	किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2009
45.	रणेन्द्र	थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ	शिल्पायन, दिल्ली	सं. 2010
46.	लीलवान, जयप्रकाश	नए क्षितिजों की ओर	भारतीय दलित अध्ययन संस्थान, नई	प्र.सं. 2009

			दिल्ली	
47.	विकल, कुमार	निरुपमा दत्त मैं बहुत उदास हूँ	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 1993
48.	वाजपेयी, अशोक	थोड़ी सी जगह	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1994
49.	वाजपेयी, अशोक	कहीं नहीं वहीं	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1990
50.	वाजपेयी, अशोक	अभी कुछ और	प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1998
51.	वाजपेयी, अशोक	दुख चिट्ठीरसा है	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2008
52.	वाल्मीकि, ओमप्रकाश	बस्स! बहुत हो चुका	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1997
53.	सभरवाल, राजीव	इस घर की किसी खिड़की से	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 1995
54.	सिंह, कुमारेन्द्र पारसनाथ	बोलो मोहन गांजू	लोकमित्र, दिल्ली	प्र.सं. 2008
55.	सिंह, मलखान	सुनो ब्राह्मण	बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ.प्र.)	प्र.सं. 1996
56.	सिंह, सविता	नींद थी और रात थी	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2005
57.	सहाय, रघुवीर	एक समय था	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1995
58.	सागर, एन.आर.	आजाद हैं हम	संगीता प्रकाशन, दिल्ली	सं. 1996
59.	सागर, नवीन	नींद से लम्बी रात	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 1996
60.	सुमनाक्षर, डॉ. सोहनपाल (संपादक)	अम्बेडकर - शतक	भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली	प्र.सं. 1992

61.	सुमनाक्षर, डॉ. सोहनपाल (संपादक)	सिन्धु घाटी बोल उठी	राष्ट्रीय प्रकाशन समिति, दिल्ली	प्र.सं. 1990
62.	सुधाकर, लक्ष्मीनारायण	उत्पीड़न की यात्रा	कंचन प्रकाशन, दिल्ली	सं. 1996
63.	श्रीवास्तव, एकान्त	अन्न हैं मेरे शब्द	आधार प्रकाशन, पंचकुला (हरियाणा)	प्र.सं. 1994
64.	श्रीवास्तव, एकान्त	मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद	प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली	प्र.सं. 2000
65.	शुक्ल, दिनेश कुमार	आखर अरथ	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	प्र.सं. 2009
66.	शुक्ल, विनोद कुमार	कविता से लम्बी कविता	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2001
67.	ज्ञानेन्द्रपति	गंगातट	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1999

II. सहायक-ग्रंथ सूची

क्र.सं.	लेखक/संपादक	पुस्तक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अनामिका	स्त्रीत्व का मानचित्र	सारांश प्रकाशन, दिल्ली	सं. 2001 (पेपरबैक)
2.	अरविंदाक्षन, ए.	समकालीन हिन्दी कविता	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1998
3.	अरविंदाक्षन, ए.	कविता का थल और काल	किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2001
4.	अरविंदाक्षन, ए.	कविता का यथार्थ	हिन्दी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, केरल	सं. 2003
5.	अहमद, प्रो. एजाज़	नवसाम्राज्यवाद का सांस्कृतिक प्रतिरोध	प्रगतिशील लेखक संघ, भोपाल	2008
6.	अज्ञेय	सर्जना के क्षण	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ	सं. 2007

7.	इस्सर, देवेन्द्र	उत्तर आधुनिकता :साहित्य और संस्कृति की नयी सोच	इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1996
8.	इस्सर, देवेन्द्र	नयी सदी और साहित्य (प्रश्न : स्वप्न : सृजन)	इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2000
9.	कमल, अरुण	कविता और समय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2002
10.	कार, ई.एच.	इतिहास क्या है	मैकमिलन पब्लिशर्स इण्डिया लिमिटेड	द्वितीय सं. 1979 (हिंदी अनुवाद)
11.	कुमार, विजय	साठोत्तरी हिन्दी कविता : परिवर्तित दिशाएँ	प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली	प्र.सं. 1986
12.	कुमार, विजय	अंधेरे समय में विचार	संवाद प्रकाशन, मेरठ	दू.सं. 2010
13.	कृष्ण, कुमार	समकालीन कविता का बीज गणित	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2004
14.	गोपाल, वेणु	हवाएं चुप नहीं रहती	संभावना प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1980
15.	गुप्त, मैथिलीशरण	भारत-भारती	साहित्य सदन, झांसी	बत्तीसवां सं. 2029 वि.
16.	गुप्त, मैथिलीशरण	साकेत	साकेत प्रकाशन, झांसी	प्र.सं. 1980
17.	चतुर्वेदी, जगदीश	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता : विविध परिदृश्य	श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2003
18.	चतुर्वेदी, रामस्वरूप	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	ग्या. सं. 1999
19.	चतुर्वेदी, रामस्वरूप	हिन्दी काव्य का इतिहास (कबीर से	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	सं. 2007

		रघुवीर)		
20.	चमनलाल	दलित साहित्य एक मूल्यांकन	राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली	सं. 2009
21.	चंद्र, बिपन	समकालीन भारत	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली	सं. 2001
22.	चंद्र, बिपन/ मुखर्जी, मृदुला/मुखर्जी, आदित्य	आज़ादी के बाद का भारत	हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	च.सं. 2009
23.	जालान, बिमल (अनु. कुमार, अशोक)	भारत का भविष्य (राजनीति, अर्थशास्त्र और शासन)	पेंगुइन बुक्स इंडिया, यात्रा बुक्स	प्र.सं. 2007
24.	जोशी, रामशरण (सं.)	वैश्वीकरण के दौर में (समकालीन सरोकार श्रृंखला)	समयांतर प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2006
25.	जैन, निर्मला (संपादन)	महादेवी वर्मा (संचयिता)	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2002
26.	ठाकुर, खगेन्द्र	कविता का वर्तमान	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र.सं. 1992
27.	ठाकुर, हरिनारायण	दलित साहित्य का समाजशास्त्र (आलोचनात्मक अध्ययन)	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	द्वि.सं. 2010
28.	तलवार, वीर भारत (सं.)	नक्सलबाड़ी के दौर में (इतिहास के दस्तावेज)	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली	सं. 2007
29.	तिवारी, अजय	साहित्य का वर्तमान	स्वराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2002
30.	तिवारी, नित्यानंद	आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1982

31.	तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद	समकालीन हिन्दी कविता	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1982
32.	तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (सं.)	बीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य (आलोचनात्मक निबंध)	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	प्र.सं. 2005
33.	द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद	मध्यकालीन बोध का स्वरूप (पाँच व्याख्यान)	पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़	प्र.सं. 1970
34.	द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद	कबीर	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	नौवीं आवृत्ति 2002
35.	द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद	हिन्दी साहित्य की भूमिका	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2010
36.	दुबे, अभय कुमार (सं.)	लोकतंत्र के सात अध्याय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	दू.सं. 2005
37.	धूमिल	संसद से सड़क तक	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2009
38.	नवल, नन्द किशोर	समकालीन काव्य यात्रा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2004
39.	भारती, कँवल	दलित कविता का संघर्ष (हिन्दी दलित कविता के सौ वर्ष)	स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2012
40.	भारती, धर्मवीर	सात गीत वर्ष	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	प्र.सं. 1959
41.	मिश्र, गिरीश/ पाण्डेय, ब्रजकुमार	भूमंडलीकरण: मिथक या यथार्थ	अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर	प्र.सं. 2005
42.	मिश्र, सत्यप्रकाश	कृति विकृति संस्कृति	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	सं. 2010
43.	मिश्र, शोभाकांत (संपादन-संयोजन)	नागार्जुन रचनावली-1	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2003

44.	मिश्र, देवीप्रसाद	प्रार्थना के शिल्प में नहीं	लोकभारती पेपरबैक, इलाहाबाद	सं. 2007
45.	मीनू, रजत रानी	नवें दशक की हिन्दी दलित कविता	दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली	प्र.सं. 1996
46.	मुक्तिबोध, गजानन माधव	चाँद का मुँह टेढ़ा है	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	चौदहवाँ सं. 2001 (पेपर बैक)
47.	बिष्ट, पंकज (सं.)	धर्म:प्रासंगिकता के सवाल (समकालीन सरोकार श्रृंखला)	समयांतर प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2006
48.	पटनायक, किशन (सं. - सेकसरिया, अशोक/सुनील)	भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि (गतिरोध, सम्भावना और चुनौतियाँ)	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	सं. 2006
49.	प्रकाश, उदय	सुनो कारीगर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2001
50.	प्रसाद, जयशंकर	कामायनी	विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर	सं. 2007
51.	पाण्डेय, मैनेजर	भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	च.सं. 2003
52.	रघुवंश	समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता (स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद)	केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा	द्वितीय सं. 1993
53.	रमानी, रश्मि	अकविता संदर्भ और जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ	अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1994
54.	रवि, डॉ. पी.	कविता का वर्तमान	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2011

55.	लिंबाले, डॉ. शरण कुमार (अनु. गुप्ता, रमणिका)	दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	द्वितीय.सं. 2005
56.	लोहिया, राममनोहर (सं. शरद, ओंकार)	इतिहास-चक्र	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	छठवाँ सं. 2009
57.	शर्मा, डॉ. राजकुमार (सं.)	विचारधारा और साहित्य	राज पब्लिशिंग हाउस, पूर्वी दिल्ली	प्र.सं. 1979
58.	शर्मा, रामविलास	नयी कविता और अस्तित्ववाद	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प. छात्र सं. 1993
59.	शर्मा, रामविलास (संपादन)	राग-विराग	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	सं. 1979
60.	शर्मा, रामविलास (संपादन)	श्रम का सूरज	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र.सं. 1986
61.	शर्मा, सुरेश (संपादन)	रघुवीर सहाय : प्रतिनिधि कविताएं	राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली	प्र.सं. 1994
62.	शुक्ल, आचार्य रामचंद्र	हिन्दी साहित्य का इतिहास	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी	तेइसवाँ सं. 2047 विक्रम
63.	शुक्ल, ध्रुव	त्रिलोचन संचयिता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2002
64.	सिंह, काशीनाथ	आलोचना भी रचना है	किताब घर, नई दिल्ली	संशोधित सं. 1996
65.	सिंह, केदारनाथ (संपादन)	त्रिलोचन : प्रतिनिधि कविताएं	राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली	सं. 1996
66.	सिंह, डॉ. तेज	प्रतिरोध की बहुजन संस्कृति	बुक्स इंडिया, दिल्ली	-
67.	सिंह, नामवर	इतिहास और आलोचना	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	तीसरा सं. 1978
68.	सिंह, नामवर	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	नवीन सं. 2005
69.	सिंह, नामवर	कविता के नए प्रतिमान	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	चौथा सं. 1990

70.	सिंह, नामवर	कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
71.	सिंह, प्रेम	उदारीकरण की तानाशाही (राजनीति पर भूमंडलीकरण के प्रभाव का विश्लेषण)	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2008
72.	सिंह, बच्चन	हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1996
73.	सिंह, योगेन्द्र	भारत में सामाजिक परिवर्तन (संकट और समुत्थानपरकता)	जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली	प्र.सं. 1999
74.	सिंह, विजय बहादुर	नागार्जुन का रचना-संसार	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	द्वितीय सं. 2009
75.	सहाय, रघुवीर	आत्महत्या के विरूद्ध	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1967
76.	साही, विजयदेव नारायण	छठवाँ दशक	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद	प्र.सं. 1987
77.	श्रीनिवास, एम.एन.	आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	छठवाँ सं. 1991
78.	श्रीवास्तव, परमानंद	कविता का अर्थात्	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 1999
79.	श्रीवास्तव, परमानंद (सं.)	केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएं	राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली	प्र.सं. 1985
80.	श्रोत्रिय, प्रभाकर (सं.)	समय में कविता	मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् प्रकाशन, भोपाल	प्र.सं. 1992
81.	वर्मा, पवन कुमार	भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान	राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली	प्र.सं. 2009

82.	वर्मा, लाल बहादुर	इतिहास के बारे में	प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली	प्र.सं. 1984
83.	वर्मा, लाल बहादुर	इतिहास : क्यों-क्या-कैसे	हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
84.	वाजपेयी, अशोक (सं.)	कविता का जनपद	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1992
85.	वाजपेयी, अशोक	फिलहाल	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	छठा सं. 2007
86.	वाल्मीकि, ओमप्रकाश	दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2001
87.	त्रिपाठी, अरविन्द	कवियों की पृथ्वी	आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)	प्र.सं. 2004
88.	त्रिपाठी, श्रीराम	धूमिल और परवर्ती जनवादी कविता	रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद	द्वितीय सं. 2002

III. पत्र-पत्रिकाएँ

1. अम्बुज, कुमार (अतिथि सं.), वसुधा (अप्रैल-जून 95), मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ
2. कालजयी, किशन (सं.), सबलोग (दिसम्बर 2011), दिल्ली
3. कालजयी, किशन (सं.), सबलोग (मार्च, 2010), दिल्ली
4. कुमार, अजेय (सं.), उद्भावना (गुजरात पर कवि, नवम्बर 2002), दिल्ली
5. कृषक, रामकुमार (सं.), अलाव (अक्तूबर, 1993), दिल्ली
6. टेटे, वंदना (सं.), अखड़ा (जून-अगस्त, 2011), राँची
7. तिवारी, विनोद (सं.), पक्षधर वार्ता (मई-दिसम्बर, 2008), नई दिल्ली
8. प्रकाश, स्वयं/शर्मा, राजेन्द्र (सं.), प्रगतिशील वसुधा (अप्रैल-जून 2005), भोपाल
9. प्रकाश, स्वयं/शर्मा, राजेन्द्र (सं.), प्रगतिशील वसुधा (जुलाई-सितम्बर 2005), भोपाल
10. प्रकाश, स्वयं/शर्मा, राजेन्द्र (सं.), प्रगतिशील वसुधा (अप्रैल-जून 2007), भोपाल
11. प्रकाश, स्वयं/शर्मा, राजेन्द्र (सं.), प्रगतिशील वसुधा (जुलाई-सितम्बर 2009), भोपाल
12. प्रकाश, स्वयं/शर्मा, राजेन्द्र (सं.), प्रगतिशील वसुधा (जुलाई-सितम्बर 2010), भोपाल
13. मिश्र, विजय कुमार (सं.), सामयिक मीमांसा (अप्रैल-जून 2008), दिल्ली
14. हरिनारायण (सं.), कथादेश (मई 2012), सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली
15. सागर, शैलेन्द्र (सं.), कथाक्रम (जुलाई-सितम्बर 2012), लखनऊ
16. शंभुनाथ (सं.), समकालीन सृजन (आधुनिकता की पुनर्व्याख्या, वर्ष 2002), कोलकाता
17. शर्मा, डॉ. रेखा (सं.), संस्मारिका (समकालीन हिंदी कविता : बदलते परिवेश, सितम्बर 2004), हैदराबाद
18. श्रीवास्तव, एकान्त/खेमानी, कुसुम (सं.), वागर्थ (फरवरी, 2013), भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता
19. श्रीवास्तव, एकान्त/खेमानी, कुसुम (सं.), वागर्थ (अप्रैल, 2013), भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता
20. श्रीवास्तव, एकान्त/खेमानी, कुसुम (सं.), वागर्थ (हिन्दी कविता : 80 के बादल लॉन्ग नाइन्टीज़), भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता
21. श्रीवास्तव, परमानंद (सं.), आलोचना (जुलाई-सितम्बर 2001), राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली
22. श्रीवास्तव, परमानंद (सं.), आलोचना (अप्रैल-जून 2000), राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली

23. श्रोत्रिय, प्रभाकर (अतिथि सं.), समकालीन भारतीय साहित्य (मार्च-अप्रैल 2012), नई दिल्ली
24. श्रोत्रिय, प्रभाकर (अतिथि सं.), समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक) (जुलाई-अगस्त 2011), नई दिल्ली

IV वेब सामग्री

1. tadbhav.com